प्राचीन-पद्य-प्रभाकर

हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवियों की उत्तम रचनाओं का संग्रह

सङ्कलनकर्त्ता एवं सम्पादक
'हिन्दी पर्य्यायवाची कोश' एवं 'भारतीय गृह-विज्ञान' के रचयिता

पं० श्रीकृष्ण शुक्ल विशारद

१९९९
हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग

समर्पण

भूत-भावन भगवान् शंकर ! यह भी आपकी ही
प्रेरणा का फल है कि आज यह प्राचीन
पद्य-संग्रह खरा या खोटा जैसा कुछ
बन पड़ा है, आपके अभयप्रद
श्रीचरणों में सादर
समर्पित है।

—लेखक

प्रकाशक का वक्तव्य

स्वर्गीय श्रीमान् बड़ौदा नरेश सर सयाजीराव गायकवाड़ महोदय ने बम्बई सम्मेलन में स्वयं उपस्थित होकर ५०००) रुपये की जो सहायता सम्मेलन को प्रदान की थी, उससे सम्मेलन ने सुलभ साहित्य माला के अंतर्गत कई उत्तमोत्तम पुस्तकें प्रकाशित की हैं। प्रस्तुत पुस्तक उसी माला में प्रकाशित हो रही है।

साहित्य-मंत्री

संस्तव

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की प्रथम परीक्षा के छात्रों को अधिक तथा विशेष विज्ञ बनाने की सदिच्छा से प्रेरित होकर हमारे मित्र पंडित श्रीकृष्ण शुक्ल ने 'प्राचीन-पद्य-प्रभाकर' नाम का संग्रह प्रस्तुत किया है। प्रायः लोगों की यह धारणा हो गई है कि संग्रह करने का काम परम सरल है। दो-चार पोथियाँ बटोरीं और आँख मूँद कर कुछ इधर से और कुछ उधर से लेकर एक संग्रह बना डाला। यह प्रायः ऐसे लोगों द्वारा होता है जिनकी पहुँच ऊपर तो दूर तक होती है, पर नीचे छात्रों तक नहीं हो पाती। इसीलिये इन संग्रहों के मारे अध्यापकगण के नाकों दम है। दो-चार संग्रह अध्यापकों द्वारा भी प्रस्तुत किए गए हैं, किन्तु उनमें भी वही व्यापक भूलें हैं। कारण यही है कि अपने पथ-प्रदर्शकों के सुझाए हुए मार्ग से बहकने का साहस वे नहीं कर सकते। किन्तु प्रस्तुत संग्रह इस दृष्टि से अनूठा ही है। पं० श्रीकृष्ण शुक्ल ने शिक्षाशास्त्र की कसौटी पर एक-एक छन्द कसा और जिसमें तनिक भी खोट हुई उसे अलग कर दिया। जो है वह खरा कुन्दन है। कोई भी पिता अपने बालक के हाथ में यह संग्रह देकर प्रसन्न ही होगा। फिर इसमें एक विशेषता यह भी है कि बालक स्वतः इसके पद स्मरण करने को लालायित होंगे।

एक शिक्षा-शास्त्री का कथन है कि काव्य पढ़ाने का उद्देश्य तो यह होना चाहिये कि काव्य की ओर छात्रों की रुचि बढ़े, वे चाव से और भी अधिक काव्य पढ़ने तथा कविता के रस में आकण्ठ निमज्जित होने के लिये उत्सुकता दिखावें। पर हमारे बहुत से विद्वान् मित्र अपने काव्य-संग्रहों में खोज-खोज कर ऐसे-ऐसे पद भर देते हैं जिनका मूल पाठ भी प्राप्त नहीं है, जिनके रचयिता का भी ठिकाना नहीं है, और जिनमें ऐसे परमार्थ तत्त्व भरे हुए रहते हैं कि बड़े-बड़े योगी लाख सिर पटकने पर भी उनकी थाह न पा सकें। यह सब ढोंग किया जाता है काव्य-प्रतिनिधित्व लाने के लिये। काव्य-प्रतिनिधित्व

शब्द की जैसी भ्रमपूर्ण मीमांसा हिन्दी-काव्य-संग्रह-कर्त्ताओं के मस्तिष्क से उत्पन्न हुई है, वैसी किसी दूसरे साहित्य में नहीं हुई। इसका कारण कुछ तो अहम्मन्यता है, कुछ ज्ञान-लव-दुर्विदग्धता है, कुछ पल्लव-ग्राहिता है, और बहुत कुछ है असावधानी और अनधिकार-चेष्टिता। मुझे प्रसन्नता है कि पं० श्रीकृष्ण शुक्ल ने उस दूषित जाल से अपने को मुक्त कर लिया है।

पाठ्य-पुस्तक निर्माण करने के जो तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं उनका भी शुक्लजी ने पालन किया है। वे नियम ये हैं:—

(१) पाठ्य-पुस्तकों के पाठ छात्रों की रुचि, ज्ञान और मनोवृत्ति के अनुकूल हों।

(२) पाठों में कहीं कोई भी ऐसी बात प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में निहित न हो जो उनके मन में काम-वासना जागरित करे या उस क्षेत्र का ध्यान भी दिलावे।

(३) गूढ़ शास्त्रीय विषयों का समावेश न हो।

इस प्रकार शिक्षा-शास्त्र द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों की कसौटी पर कसकर यह संग्रह उपस्थित किया गया है। मुझे यह देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि शुक्लजी ने प्रत्येक तर्कपूर्ण सम्मति का आदर किया और जो-जो आवश्यक परिवर्तन उन्हें उनके मित्रों ने सुझाए वे उन्होंने कर दिए। जिस लगन, परिश्रम, उत्साह और योग्यता से यह संग्रह प्रस्तुत किया गया है वह अन्य संग्रह-कर्त्ताओं के लिये आदर्श होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। "यह पूर्ण है"—यह कहने की धृष्टता तो न मैं कर सकता हूँ, न शुक्लजी ही, किन्तु पूर्णता की ओर अधिक से अधिक अग्रसर होने का यह सत्य तथा निश्छल प्रयास है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। जितने ही अधिक विद्वानों की सुदृष्टि इस पर पड़ेगी और वे जितना ही निष्पक्ष होकर सहृदयता और सत्यनिष्ठा के साथ इसकी त्रुटियों की ओर ध्यान दिलावेंगे उतना ही इसका रूप निखरता जायगा और अगले संस्करण में उचित सुधार करने का अवकाश मिल जायगा।

इस संग्रह की ठीक परख तो तब होगी जब अध्यापक लोग अपने विद्यालयों में इसे पढ़ाना आरम्भ करेंगे। किस कविता को पढ़कर छात्र उल्लास

से नाच उठते हैं, किसे पढ़कर मुँह बिचकाते हैं, ये सब बातें जानने पर ही निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि संग्रह ठीक उतरा है या नहीं। मेरा विश्वास है कि छात्रगण को भी यह संग्रह अच्छा लगेगा, क्योंकि इसके संग्रह-कर्त्ता छात्रों के सम्पर्क में रहते हैं, उनकी प्रवृत्तियों, भावनाओं और इच्छाओं का निरीक्षण करते रहते हैं; और अनेक वर्षों के अनुभव ने उन्हें यह ज्ञान करा दिया है कि छात्रों को किस घूँटी से लाभ होगा, कौन सी उन्हें अच्छी लगेगी।

मैं पंडित श्रीकृष्णजी शुक्ल को उनके इस सफल प्रयास के लिये हार्दिक बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि वे इस दिशा में आगामी पीढ़ी को उचित पंथ दिखलावेंगे।

काशी
१ जुलाई, १९४२

सीताराम चतुर्वेदी
एम० ए०, बी० टी०, एल-एल० बी०, साहित्याचार्य,
अध्यापक, टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, काशी।

प्राक्कथन

मेरे पास प्रथमा परीक्षा के परीक्षार्थी साहित्य-अध्ययन के निमित्त आया करते हैं। मैं यह बराबर देखता आ रहा हूँ कि उनके लिये प्राचीन पद्य की जो पुस्तकें निर्धारित हैं उनसे उन छात्रों को प्राचीन कवियों की रचनाओं का यथेष्ट रस नहीं प्राप्त होता। हिन्दी-साहित्य का भंडार प्राचीन कवियों की पद्य-रचनाओं से भरा पड़ा है। उसमें से केवल चार कवियों की रचनाओं के कुछ संग्रह पढ़ लेने से ही परीक्षार्थियों को प्राचीन काव्य-धारा का यथोचित ज्ञान एवं आनन्दानुभव नहीं हो पाता। नवीन छात्रों में प्राचीन काव्य के अध्ययन की यह कमी अवश्य खटकने योग्य है। अस्तु, मैंने सम्मेलन के परीक्षा मंत्री की अनुमति एवं हिन्दी विश्वविद्यालय-परिषद् के कुछ सदस्य मित्रों का प्रोत्साहन पाकर हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवियों की उत्तम रचनाओं का यह संग्रह किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी के प्राचीन काव्य में अत्यधिक शृंगार रस का समावेश है, और मुझे संग्रह तैयार करना था नवयुवक छात्रों एवं छात्राओं के लिये। समस्या कुछ विषम-सी अवश्य थी; परन्तु फिर भी यह जानकर कि खारे समुद्र में शंख और घोंघों के अतिरिक्त मोती भी प्राप्त होते हैं—मैंने प्राचीन पद्य-सागर से मुक्ता-चयन आरम्भ कर दिया। काव्य-सौष्ठव और भाषा का विचार करते समय यह भी ध्यान में रखना उचित था कि यह संग्रह काव्य-जगत् में प्रवेश करनेवाले प्राथमिक छात्रों के लिये है। उनका हृदय शृंगार-रसास्वाद के उपयुक्त कदापि नहीं होता। ऐसे नवयुवकों में प्रथमतः ऐसे ही भावों की जागृति करानी चाहिये, जिनसे उनकी मानवता चेतन हो उठे और उनकी कोमल और उग्र दोनों प्रकार की भावनाएँ सजग होकर उन्हें संसार की व्यावहारिकता का ज्ञान कराने में सहायक हो सकें।

सुतराम्, काल-विभाग के विचार से मैंने वीरगाथा काल की रचनाएँ भाषा की क्लिष्टता के कारण उपयुक्त नहीं समझीं। भक्तिकाल के निर्गुण पंथ की

रचनाएँ भी प्रारम्भिक छात्रों के योग्य नहीं होतीं। क्योंकि उनके विषय प्रायः निगूढ़ निर्गुण-ब्रह्मनिरूपण, ध्यान, समाधि, योग आदि तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाले होते हैं, जिनके समझने के लिये प्रारम्भिक अवस्थावाले छात्रों की बुद्धि परिपक्व नहीं होती।

अस्तु, मैंने भक्तिकाल के सगुण पंथ की रचनाओं से ही ग्रन्थारम्भ करना उपयुक्त समझा। इस धारा में दो शाखाएँ हैं। एक राम-भक्ति-शाखा और दूसरी कृष्ण-भक्ति-शाखा। प्रथम शाखा में कविकुल-चूड़ामणि, गो० तुलसीदास की ही रचनाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं और द्वितीय शाखा के तो अनेक धुरंधर कवियों की रचनाओं से हमारे साहित्य का भण्डार भरा पड़ा है। कृष्णभक्ति-शाखा के प्रमुख कवि महात्मा सूरदास की कुछ अनूठी रचनाओं के संग्रह के साथ-साथ रामभक्ति-शाखा के कविशिरोमणि गो० तुलसीदासजी की रचनाओं में से रामचरित-मानस का 'भरत-सभा-प्रकरण' दिया है। इसमें भगवान रामचन्द्र के अनन्य भक्त भरतजी की प्रभुवियोगजन्य आन्तरिक वेदना का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र चित्रित हुआ है। इसके द्वारा कवि ने नीति, वैराग्य और करुणा की त्रिवेणी भगवान रामचन्द्र के चरणों की ओर बड़ी ही कुशलता से बहाई है। मानस में यह प्रकरण ऊँचे दर्जे के काव्य गुणों से युक्त है। इसके अतिरिक्त कवितावली से लंकादहन एवं हनुमान की युद्ध-वीरता के प्रसंग के कुछ चुने हुए कवित्त दिए गए हैं, जिनसे वीर, भयानक, रौद्र एवं वीभत्स रसों का क्रमशः आस्वादन होता है। उपर्युक्त दो भक्तों की रचनाओं के बाद कृष्णचन्द्र की अनन्य भक्ति में लीन देवी मीराबाई के पदों का संग्रह दिया गया है। इस प्रकार आरम्भ के तीन पाठों में उच्चकोटि के भक्त और हिन्दी साहित्य के रत्न-कवियों की रचनाओं का संग्रह क्रमशः दिया गया है। तत्पश्चात् नरोत्तमदास का सुदामा-चरित, गंग कवि के कुछ कवित्त, खानखाना अब्दुर्रहीम के दोहे एवं सेनापति का ऋतुवर्णन क्रमशः संगृहीत हैं। भक्तिकाल के इतने ही कवि प्रतिनिधि रूप में लिए गए हैं। इनकी रचनाओं में से श्रृंगार को बहिष्कृत करके नीति, भक्ति, वैराग्य एवं प्रकृति-निदर्शन को ही प्रश्रय दिया गया है।

इसके आगे आता है रीतिकाल। इस काल के कवियों की अधिकांश रचनाएँ शृंगारात्मक मिलती हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो उनके सामने आदर्श-पथ था राधाकृष्ण की प्रेमलीला की शृंगारमयी रचनाओं का, जो महात्मा सूरदास के समय से ही चला आता था। भक्तिकाल के समस्त कृष्णोपासकों ने राधाकृष्ण की प्रेममयी मूर्त्ति एवं व्रजविहार का ही वर्णन किया है। वे ही उनके काव्य के प्रधान विषय रहे हैं। इसलिये उन्हें शृंगारात्मक-पथ ही मिला। दूसरे कुछ पेशेवर कवि हुए, जिनके सामने भी वही राधाकृष्ण की प्रेमलीला का आदर्श-पथ था। उनके आश्रयदाता ऐसे विलासी राजा, रईस, बादशाह और नवाब थे, जिनका जीवन ही शृंगार और विलास से ओत-प्रोत रहा है। फिर भला वे अपने आश्रय-दाताओं की इच्छा के विरुद्ध काव्य-रचना कैसे कर सकते थे? इन्हीं सब कारणों से हम देखते हैं कि कुछ सन्त महात्माओं और निःस्वार्थी भक्तजनों की रचनाओं के अतिरिक्त हमें अधिक रचनाएँ अश्लील और शृंगारात्मक ही मिलती हैं। फिर भी किसी काल विशेष के प्रतिनिधि कवि होने के नाते हम उनकी रचनाओं से अपने छात्रवर्ग को विमुख रखना भी उचित नहीं समझते। इसलिये इस काल के कुछ ही प्रमुख कवियों की चुनी हुई रचनाओं का हमने संग्रह किया है, जो शृंगारी छींटों से बची हुई रह सकी हैं। रीतिकाल के प्रमुख कवियों में से बिहारीलाल के भक्ति और नीति विषयक दोहे ही चुने गए हैं। वास्तव में ये प्रतिनिधि हैं शृंगार रस के—भक्ति, नीति या वैराग्य इनका कविता-विषय नहीं है। परन्तु इनका वास्तविक प्रतिनिधित्व शृंगार रूप में दिखाना हमें अभीष्ट नहीं।

भूषण कवि रीतिकाल के शृंगार जगत में रहकर भी उसमें फँसते नहीं दिखाई देते। उस काल में यही एक वीर रस का प्रतिनिधि कवि था जिसने छत्रपति शिवाजी की तलवार दक्षिण भारत की म्यान से निकाल कर उत्तर भारत में चमकाई थी। जिस समय भारत के कविगण अपने आश्रयदाताओं को रङ्गमहल का विलासमय जीवनोपभोग कराने में अपनी पवित्र वाणी एवं लेखनी को कलुषित कर रहे थे, उस समय भारत में भूषण की वाणी सिंहगर्जन करती हुई वीर राजपूतों की तलवार चमकाने में प्रवृत्त थी। जिस समय भारत

में उत्तान श्रृंगार के बादल मँड़रा रहे थे, उसी समय दक्षिण भारत में भूषण की ओजस्विनी वाणी की बिजली ऐसी चमकी और इतने ज़ोरों से कड़की कि एक बार सारा भारतवर्ष दहल उठा। मोह-निशा में सोए हुए सिंह भूषण की कड़क से जग पड़े। यह था कवि भूषण की लेखनी का प्रताप। अतः भूषण अपने समय के वीर रस के एक मात्र प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं।

भूषण के बाद देव, रसखान, पद्माकर, और ठाकुर के चुटीले कवित्त-सवैयों का संग्रह है। इसके आगे आते हैं बाबा दीनदयाल गिरि जो अन्योक्तियों में अपना सानी नहीं रखते। उनकी दस कुण्डलियाँ दी गई हैं।

यद्यपि यहाँ पर प्राचीन काव्य के प्रतिनिधियों की रचनाएँ समाप्त हो जाती हैं, तथापि अपने कुछ मित्रों के आग्रह से प्राचीनता के पुजारी एवं आधुनिक गद्य के जन्मदाता श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचना का एक पाठ प्राचीन काव्य-शैली के उपसंहार-रूप में दे दिया गया है। इस प्रकार प्राचीन-काव्य के पन्द्रह प्रतिनिधि कवियों की रचनाएँ इस पुस्तक में संगृहीत हुई हैं।

विद्यार्थियों की सुगमता के विचार से कठिन शब्दों के अर्थ प्रत्येक पृष्ठ की पाद-टिप्पणी के रूप में दे दिए गए हैं। ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट रूप से रसों का संक्षिप्त परिचय 'नवरसालोक' नाम से दिया गया है, एवं इस संग्रह में आए हुए छन्दों के लक्षणादि से अवगत होने के लिये 'छन्दसारावली' नाम से एक छोटा-सा परिच्छेद दिया गया है, जिसमें प्रत्येक छन्द का लक्षण उसी छन्द में दिया गया है। इससे छात्रों को कंठस्थ करने में सुभीता होगा और साथ ही प्रत्येक लक्षण अपने छन्द का उदाहरण भी हो जाता है।

अन्त में मैं अपने प्रोत्साहकों एवं सत्परामर्शदाताओं को कृतज्ञता एवं धन्यवाद-पूर्वक संस्मरण करना कदापि नहीं भूल सकता। इस संग्रह को तैयार करने में सबसे अधिक प्रोत्साहन देनेवाले हैं प्रो० दयाशंकरजी दुबे एम्०ए०, एल-एल्० बी० (परीक्षा-मंत्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन) तथा इसके संकलन में समय-समय पर सत्परामर्श द्वारा प्रोत्साहन देनेवाले एवं ग्रन्थारम्भ में 'संस्तव' लिखकर इस संग्रह की प्रतिष्ठापना करनेवाले हैं हमारे मित्र, हिन्दी-संस्कृत-पाली के विद्वान् एवं शिक्षा-शास्त्र के विशेषज्ञ, स्थानीय टीचर्स ट्रेनिङ्ग कालेज के

सुयोग्य प्रोफेसर पं० सीताराम चतुर्वेदी एम्० ए०, एल-एल्० बी०, बी० टी०, साहित्याचार्य, जिनके प्रति अनेक धन्यवाद सहित कृतज्ञता प्रकाश करने से मुझे परितृप्ति नहीं होती। उनकी कृपा का आभार मुझ पर सदा बना रहेगा।

काशी
गंगा दशहरा,
सं० १६६६ वि०

विनीत
श्रीकृष्ण शुक्ल

अनुक्रम

१—महात्मा सूरदास

विक्रम की पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में वैष्णवधर्म का आन्दोलन देश के कोने-कोने में फैल रहा था, जिसके प्रधान प्रवर्त्तकों में महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यजी थे। आपका जन्म सं० १५३५ में हुआ था और गोलोकवास सं० १५८७ में।

स्वामी शंकराचार्य ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक रूप कहा था, और सगुण को व्यावहारिक या मायिक रूप। परंतु महाप्रभुजी ने सगुण को ही असली पारमार्थिक रूप बतलाया और निर्गुण को उसका अंशतः तिरोहित रूप। इन्होंने भक्ति की साधना के लिये प्रेम को मुख्य और श्रद्धा को सहायक माना है। महाप्रभुजी ने मथुरा में अपनी गद्दी स्थापित की और वल्लभ सम्प्रदाय चलाया। महाप्रभु और उनके पुत्र गो० विट्ठलनाथजी के शिष्यों में से आठ मुख्य शिष्य थे, जो अष्ट छाप के नाम से विख्यात थे। उनके नाम ये हैं—सूरदास, कुंभनदास, गोविंद स्वामी; चतुर्भुजदास, छीत स्वामी, नन्ददास, कृष्णदास और परमानन्ददास। ये सभी कवि और कृष्णोपासक भक्त थे। इनकी रचनाओं से ब्रजभाषा को बहुत ऊँचा स्थान मिला, जिनमें म० सूरदास की रचना सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। वल्लभ संप्रदाय के अनुयायियों ने कृष्णचन्द्र की प्रेमलीला का ही गुणानुवाद किया और उनकी शृंगारात्मक मूर्त्ति की ही उपासना चलाई। उन्होंने कृष्ण के लोक-रक्षक और धर्म-संस्थापक रूप को लोक के सामने रखने की आवश्यकता नहीं समझी, प्रत्युत राधाकृष्ण की प्रेमलीला ही सब ने गाई। सुतराम् सभी कृष्णभक्त कवि श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला को ही लेकर चले।

महात्मा सूरदासजी का जन्म मथुरा और आगरे के बीच रुनकता ग्राम में हुआ। यह सारस्वत ब्राह्मण थे। ये जन्मांध थे या बाद में अंधे हुए, इस पर बहुत मतभेद है। कुछ लोग तो इन्हें चन्द बरदाई के वंशज मानते हैं। ये ब्रज

में अपना आश्रम बना कर रहते थे। एक बार महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यजी वहाँ पधारे और (सं० १५८० में) सूर को अपना शिष्य बना लिया। महाप्रभुजी के उपदेश से उनमें कृष्णभक्ति का उद्रेक हुआ। श्रीमद्भागवत के कथा-प्रसंगों के आधार पर इन्होंने तत्कालीन ब्रजभाषा में गीति-काव्य की रचना की, जो सूर-सागर के नाम से प्रसिद्ध है। भक्त कवियों में गोस्वामी तुलसीदास के बाद सूरदास का ही स्थान है। सूरदास की सारी रचना शृंगार और वात्सल्य से पूर्ण है।

(१) विनय

चरन कमल बन्दौं हरि राई।
जाकी कृपा पंगु[1] गिरि लंघै, अंधे कों सब कछु दरसाई॥
बहिरौ सुनै, मूक[2] पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।
'सूरदास' स्वामी करुनामय, बार बार बन्दौं तेहि पाँई॥१॥

छाँड़ि मन हरि बिमुखन कौं संग।
जिनके संग कुबुधि उपजति है, परत भजन में भंग॥
कहा होत पय पान कराये, विष नहिं तजत भुजंग[3]।
कागहिं कहा कपूर चुगाये, स्वान न्हवाये गंग॥
खर को कहा अरगजा[4]-लेपन, मर्कट[5] भूषन अंग।
गज को कहा न्हवाये सरिता, बहुरि धरै खहि छंग[6]॥
पाहन[7] पतित बान नहिं बेधत, रीतौ[8] करत निषंग[9]।
'सूरदास' खल कारि कामरी, चढ़त न दूजौ रंग॥२॥

मेरो मन अनत कहा सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी, फिरि जहाज पै आवै॥
कमलनैन को छाँड़ि महातम, और देव को ध्यावै।
परम गंग कौं छाँड़ि पियासो, दुरमति कूप खनावै॥

[1]लँगड़ा। [2]गूँगा। [3]सर्प। [4]सुगंधित लेप। [5]बंदर। [6]धूल। [7]पत्थर। [8]खाली। [9]तरकश।

जिन मधुकर अंबुज-रस चाख्यो, क्यों करील[1] फल खावै।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै ॥३॥

सोइ रसना जो हरि गुन गावै।
नैनन की छबि जहै चतुरता, ज्यों मलिन्द[2] मकरन्दहिं ध्यावै।
निरमल चित तौ सोई साँचौ, कृष्ण बिना जिय और न भावै ॥
स्रवननि की जु यहै अधिकाई, सुनि रस-कथा सुधारस प्यावै।
कर तेई जे स्यामहिं सेवैं, चरननि चलि बृन्दावन जावै ॥
'सूरदास' जैये बलि ताके, जो हरिजू सौं प्रीति बढ़ावै ॥४॥

अब के नाथ मोहिं उधारि।
मग नहीं भव-अम्बुनिधि में, कृपा सिंधु मुरारि ॥
नीर अति गम्भीर माया, लोभ लहरति रंग।
लिए जात अगाध जल में, गहे ग्राह अनंग[3] ॥
मीन इन्द्रिय अतिहि काटति, मोट अघ[4] सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह सिवार ॥
काम-क्रोध समेत तृस्ना, पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत तिय-सुत, नाम नौका ओर ॥
थक्यो बीचि[5] विहाल विह्वल, सुनो करुनामूल।
स्याम ! भुज गहि काढ़ि लीजै, 'सूर' ब्रज के कूल ॥५॥

(२) बाल-चरित्र

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै, जोइ सोई कछु गावै ॥
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहे न आनि सुवावै।
तू काहे नहिं बेगि सों आवै, तोकौं कान्ह बुलावै ॥
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, अधर कबहुँ फरकावै।

[1] एक प्रकार का वृक्ष जिसका फल कड़ुवा होता है। ब्रज में इसके वृक्ष अधिक हैं। [2] भौंरा। [3] कामदेव। [4] पाप। [5] लहर।

सोवत जानि मौन ह्वै बैठी, करि कर सैन बतावै ॥
इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावै।
जो सुख 'सूर' अमर[1] मुनि दुरलभ, सो नँद भामिनि पावै ॥१॥

मैया मेरी मैं नहिं माखन खायो।
भोर भयो गैयन के पीछे, मधुवन[2] मोहिं पठायो।
चार पहर बंसीबट भटक्यो, साँझ परे घर आयो ॥
मैं बालक बहिंयन को छोटौ, छीका[3] किहि बिधि पायौ।
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायौ ॥
तू जननी मन की अति भोरी, इनके कहे पतियायौ।
जिय तेरे कछु भेद उपजिहै, जानि परायौ जायौ ॥
यह ले अपनी लकुटि कमरिया, बहुतहि नाच नचायौ।
'सूरदास' तब बिहँसि जसोदा, लै उर कण्ठ लगायौ ॥२॥

मैया, मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसौं कहत मोल को लीनों, तोहिं जसुमति कब जायो ॥
कहा कहौं यहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जातु।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरो तातु ॥
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तुम कत स्याम शरीर।
चुटुकी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर ॥
तू मोहीं को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि, जसुमति सुनि सुनि रीझै ॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई[4], जनमत ही को धूत[5]।
'सूरस्याम' मो गोधन की सौं, हौं माता तू पूत ॥३॥

आजु मैं गाइ चरावन जैहौं।
बृन्दाबन के भाँति भाँति फल, अपने करतें खैहौं ॥
ऐसी अबहिं कहौ जनि बारे, देखौ अपनी भाँति।

[1]देवता। [2]वृंदावन। [3]सिकहर। [4]चवाई। [5]धूर्त।

तनिक तनिक पाँइ चलिहौ कैसे, आवत ह्वै है राति ॥
प्रात जात गैया लै चारन, घर आवत हैं साँझ ।
तुम्हरो कमल बदन कुम्हिलैहे, रेंगत घामहिं माँझ ॥
तेरी सौं मोहिं घाम न लागत, भूख नहीं कछु नेक ।
'सूरदास' प्रभु कह्यो न मानत, परे आपनी टेक ॥४॥

अद्‌भुत कौसल देखि सखी री, श्री बृन्दाबन होड़ परी री ।
उत घन उदित सहित सौदामिनि[1], इतै मुदित राधिका हरी री ॥
उत बग पाँति शोभित इत सुन्दर, धाम बिलास सुदेस खरी री ।
उत बन गरज इहाँ मुरली धुनि, जलधर उत इत अमृत भरी री ॥
उतहि इन्द्रधनु इत बनमाला, अति बिचित्र हरि कण्ठ धरी री ।
'सूर' साथ प्रभु कुंअरि राधिका, गगन की सोभा दूरि करी री ॥५॥

(३) उद्धव-संदेश

उधो, तुम ब्रज की दशा बिचारौ ।
ता पीछे यह सिद्ध आपनी, जोग कथा विस्तारौ ॥
जा कारन तुम पठये माधो, सो सोचौ जिय माहीं ।
कितनौं बीच बिरह परमारथ[2], जानत हो किधौं नाहीं ॥
तुम परबीन चतुर कहियत हौ, संतन निकट रहत हौ ।
जल बूड़त अबलंब फेन कौ, फिरि फिरि कहा गहत हौ ॥
वह मुसकानि मनोहर चितवनि, कैसे उर तें टारौं ।
जोग जुगति अरु कुमति परमनिधि, वा मुरली पर वारौं ॥
जिहि उर कमल नयन जु बसत हैं, तिहि निर्गुन[3] क्यों आवै ।
'सूरदास' सो भजन बहाऊँ, जाहि दूसरो भावै ॥१॥

हमको हरि की कथा सुनाउ ।
ये आपनी ग्यान-गाथा अलि, मथुरा ही लै जाउ ॥
नगर-नारि नीके समुझैंगी, तेरो बचन बनाउ ।

[1]बिजली । [2]परमपद । [3]निराकार ब्रह्म की उपासना ।

पालागौं ऐसी इन बातनि, उनही जाइ रिझाउ ॥
जो सुचि सखा स्याम सुन्दर को, अरु जिय अति सतिभाउ।
तो बारक आतुर इन नैनन, वह मुख आनि देखाउ ॥
जो कोउ कोटि करै कैसेहू, विधि विद्या ब्यौसाउ।
तो सुन 'सूर' मीन के जल बिनु, नाहिन और उपाउ ॥२॥

और सकल अंगन ते ऊधो, अँखिया बहुत दुखारी।
अधिक पिराति सिराति न कबहूँ, अमित जतन करि हारी ॥
चितवति मग सुनिमेष[1] न मिलवति बिरह बिकल भइ भारी।
भरि गई बिरह-बाइ माधो तन, इकटक रहत उघारी ॥
अलि आली गुरु ज्ञान सलाका[2], क्यों सहि सकति तुम्हारी।
'सूर' सुअंजन आँजि रूप रस, आरति[3] हरौ हमारी ॥३॥

मधुकर इतनी कहियतु जाइ।
अति कृश गात भईं ये तुम बिनु, परम दुखारी गाइ ॥
जल समूह बरषति दोउ आँखैं, हूँकति लीने नाउँ।
जहाँ जहाँ गोदोहन कीनो, सूंघति सोई ठाउँ ॥
परति पछार खाइ छिन ही छिन, अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु 'सूर' काढ़ि डारी है, बारि मध्य ते मीन ॥४॥

ऊधो हम ऐसे नहिं जानी।
सुत के हेतु मर्म नहिं पायो, प्रगटे सारँगपानी[4] ॥
निसिवासर छातीं सों लाई, बालक लीला गाई।
ऐसे कबहूँ भाग होहिंगे, बहुरो गोद खेलाई ॥
को अब ग्वालसखा सँग लीन्हें, साँझ समै ब्रज आवै।
को अब चोरि-चोरि दधि खैहै, मैया कवन बोलावै ॥
बिदरति नाहीं ब्रज की छाती, हरि बियोग क्यों सहिए।
'सूरदास' अब नंदनंदन बिनु, कहो कौन बिधि रहिए ॥५॥

[1] पलक। [2] सलाई। [3] दुःख। [4] विष्णु भगवान।

२—गोस्वामी तुलसीदास

गो० तुलसीदासजी का जन्म सं० १५५४ में जि० बाँदा के अन्तर्गत राजापुर ग्राम में हुआ था। ये सरयूपारी ब्राह्मण, पाराशर गोत्रीय, पतिऔजा के दूबे थे। इनके पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का हुलसी था। इनके बचपन में ही इनके माता-पिता का देहान्त हो गया था, तब मुनिया नाम की एक दासी ने इन्हें पाला-पोसा। जब वह भी दिवंगत हो गई तब ये दर दर मारे मारे फिरा करते और राम का भजन किया करते थे। कालान्तर में बाबा नरहरिदासजी अपनी मंडली सहित उधर ही से निकले और इन्हें निराश्रय और रामभक्ति में निष्ठ जानकर उन्होंने इनको अपने साथ ले लिया, और अपना शिष्य बना लिया। उनकी सत्संगति में रहकर गोस्वामीजी पक्के रामभक्त हो गए। तत्पश्चात् काशी के परम विद्वान् शेष सनातनजी के यहाँ रहकर इन्होंने वेद-वेदाङ्ग, इतिहास-पुराण, साहित्य आदि की पूर्ण शिक्षा पाई। यहाँ से वे पुनः राजापुर को लौट गए। वहाँ भारद्वाज गोत्रीय दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली के साथ इनका विवाह हुआ। कुछ दिनों तक गार्हस्थ जीवन व्यतीत करने पर इन्हें अपनी स्त्री पर इतना अनुराग हो गया कि एक क्षण के लिये भी उसे पृथक् नहीं करना चाहते थे। एक बार इनकी स्त्री अपने भाई के साथ मैके चली गई। यह उसके अनुराग में भरे हुए अर्द्ध रात्रि में गुप्त मार्ग से जाकर उससे मिले। इनके इस प्रकार के व्यवहार से इनकी स्त्री को बड़ी लज्जा मालूम हुई, उसने इन्हें खूब फटकारा। इन्हें स्त्री की बात लग गई और वे उसी समय विरक्त होकर काशी लौट आए। फिर यहाँ से चित्रकूट, अयोध्या, जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम, द्वारका होते हुए बदरिकाश्रम गए।

सं० १६३१ की चैत्र शु० को इन्होंने अयोध्या में रामचरितमानस का लिखना आरम्भ करके उसे दो वर्ष सात महीने में पूरा किया। मानस का

कुछ अंश काशी में लिखा गया है। मानस की रचना समाप्त करके ये अधिकतर काशी में ही रहने लगे। रामचरितमानस के अतिरिक्त गोस्वामीजी के रचित और भी ११ ग्रन्थ हैं—दोहावली, कवितावली, गीतावली, रामाज्ञा-प्रश्नावली, विनयपत्रिका, रामललानहछू, पार्वती-मङ्गल। जानकी-मङ्गल, बरवै रामायण, वैराग्य-संदीपनी, और कृष्णगीतावली, गोस्वामीजी की अधिक रचना अवधी भाषा में हुई है। उनमें ब्रज और बुन्देलखण्डी शब्दों के भी पुट हैं। इनकी रचनाओं में इनकी साहित्य-मर्मज्ञता, भावुकता, और गम्भीरता इतने ऊँचे दर्जे की है कि इनकी कोटि में सूरदास के अतिरिक्त और कोई भी हिन्दी-कवि नहीं ठहरता। वे सर्वत्र भावों या तथ्यों की व्यञ्जना करते पाए जाते हैं। इनकी रचना-शैली अत्यन्त प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है—एक भी शब्द फालतू नहीं आने पाया है। गोस्वामीजी की समस्त रचना भक्ति-प्रधान है। गोस्वामीजी हिन्दी साहित्य के सर्वाग्रगण्य कविकुल-कलाधर, भक्त-शिरोमणि और हिन्दू जाति के धर्म-रक्षक हैं। मानव-जीवन की सारी आवश्यकताएँ, समस्त हिन्दू आदर्श, मानवता की पराकाष्ठा एक मात्र रामचरित-मानस में संगृहीत हैं। इस धर्म-विरोधी-युग में हिन्दू धर्म और संस्कृति की जितनी रक्षा एक मात्र 'रामचरित-मानस' से हुई है उतनी हमारे अन्यान्य धर्म ग्रन्थों से कदापि नहीं हो सकी थी।

गोस्वामीजी का देहावसान काशी में सं० १६८० में काशी के अस्सी घाट पर हुआ।

(१) भरत-सभा

[प्रसंग-निर्देश—भरतजी ने महाराज दशरथजी की क्रिया विधिवत् पूर्ण की। अनेक प्रकार के दान-विधान से याचकों को पूर्ण सन्तुष्ट करके जब निश्चिन्त हुए तब गुरु वशिष्ठ ने मंत्रियों और नगर के महाजनों की एक सभा की, जिसमें महाराज दशरथ के देहावसान के बाद श्री रामचन्द्रजी की अनुपस्थिति में राज-काज सँभालने के लिये भरतजी को राजतिलक देने का निश्चय करना चाहा। इसी प्रसंग का यहाँ वर्णन किया गया है।]

पितु हित भरत कीन्हि जस करनी। सो मुख लाख जाइ नहिं बरनी॥
सुदिन सोधि मुनिवर तब आये। सचिव महाजन सकल बोलाये॥

बैठे राज सभा सब जाई। पठये बोलि भरत दोउ भाई ॥
भरत बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति-धरम-मय बचन उचारे ॥
प्रथम कथा सब मुनिवर बरनी। केकइ कुटिल कीन्हि जस करनी ॥
भूप धरमब्रत सत्य सराहा। जेहि तनु परिहरि प्रेम निबाहा ॥
कहत राम गुन-सील सुभाऊ। सजल नयन पुलकेउ मुनिराऊ ॥
बहुरि लषन-सिय-प्रीति बखानी। सोक सनेह मगन मुनिज्ञानी ॥
दोहा—सुनहु भरत भावी[1] प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि-लाभ-जीवन-मरन, जस-अपजस बिधि हाथ ॥१॥
अस बिचारि केहि देइय दोषू। ब्यरथ काहि पर कीजिय रोषू ॥
तात बिचार करहु मन माहीं। सोच जोग दसरथ नृप नाहीं ॥
सोचिय विप्र जो वेद बहीना। तजि निज धरम बिषय लवलीना ॥
सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥
सोचिय बयसु[2] कृपिन धनवानू। जो आतिथि सिव भगति सुजानू ॥
सोचिय सूद्र विप्र अपमानी। मुखर[3] मानप्रिय ज्ञान-गुमानी ॥
सोचिय पुनि पति-बंचक[4] नारी। कुटिल कलह-प्रिय इच्छाचारी ॥
सोचिय बटु निज ब्रत परिहरई। जो नहिं गुरु आयसु अनुसरई ॥
दोहा—सोचिय गृही जो मोह-बस, करइ करम-पथ त्याग।
सोचिय जती[5] प्रपंच रत[6], बिगत बिबेक-बिराग ॥२॥
बैषानस[7] सोइ सोचन जोगू। तप बिहाइ जेहि भावइ भोगू ॥
सोचिय पिसुन[8] अकारन क्रोधी। जननि-जनक–गुरु–बंधु–बिरोधी ॥
सब बिधि सोचिय पर-अपकारी। निज तनुपोषक निरदय भारी ॥
सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाँड़ि छल हरि जन होई ॥
सोचनीय नहिं कोसल राऊ। भुवन चारि दस प्रगट प्रभाऊ ॥
भयउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा ॥

[1]होनहार। [2]वैश्य। [3]बकवादी। [4]कुलटा। [5]संन्यासी। [6]संसार के प्रेम में पड़ा हुआ। [7]वानप्रस्थी। [8]दुष्ट।

बिधि-हरि-हरि सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ-गुनगाथा॥
दोहा—कहहु तात केहि भाँति कोउ, करिहि बड़ाई तासु।
राम-लषन तुम्ह सत्रुहन, सरिस सुअन सुचि जासु॥३॥
सब प्रकार भूपति बड़ भागी। बादि बिषाद करिय तेहि लागी॥
एहि सुनि समुझि परिहरहू। सिर धरि राज रजायसु[१] करहू॥
राय राजपद तुम्ह कहँ दीन्हा। पिता बचन फुर[२] चाहिय कीन्हा॥
तजे राम जेहि बचनहिं लागी। तनु परिहरेउ राम बिरहागी॥
नृपहिं बचन प्रिय, नहिं प्रिय प्राना। करहु तात पितु-बचन प्रमाना॥
करहु सीस धरि भूप रजाई[3]। यह तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥
परसुराम पितु अज्ञा राखी। मारी मातु लोग सब साखी॥
तनय जजातिहि जौबन दयऊ। पितु अज्ञा अघ अजस न भयऊ॥
दोहा—अनुचित उचित बिचारु तजि, जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन[४] सुख सुजस के, बसहिं अमरपति ऐन॥४॥
अवसि नरेस बचन फुर करहू। पालहु प्रजा सोक परिहरहू॥
सुरपुर नृप पाइहिं परितोषू। तुम कहँ सुकृत सुजसु नहि दोषू॥
बेद बिहित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥
करहु राज परिहरहु गलानी। मानहु मोर बचन हित जानी॥
सुनि सुख लहब राम बैदेही। अनुचित कहब न पंडित केही॥
कौसल्यादि सकल महतारी। तेउ प्रजासुख होहिं सुखारी॥
प्रेम तुम्हार राम कर जानिहि। सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि॥
सौंपेहु राज राम के आये। सेवा करेहु सनेह सुहाये॥
दोहा—कीजिय गुरु आयसु अवसि, कहहिं सचिव कर जोरि॥
रघुपति आये उचित जस, तस तब करब बहोरि॥५॥
कौसल्या धरि धीरज कहई। पूत पथ्य[५] गुरु आयसु अहई॥
सो आदरिय करिय हित मानी। तजिय बिषादु कालगति जानी॥

[१]राज-आज्ञा। [२]सत्य। [3]राज-आज्ञा। [४]पात्र। [५]उचित, ग्रहण करने योग्य।

बन रघुपति सुरपुर नरनाहू । तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू[1] ॥
परिजन, प्रजा, सचिव, सब अम्बा । तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा ॥
लखि बिधि बाम काल कठिनाई । धीरज धरहु मातु बलि जाई ॥
सिर धरि गुरु आयसु अनुसरहू । प्रजापालि पुरजन दुख हरहू ॥
गुरु के बचन सचिव अभिनन्दन[2] । सुने भरत हिय हित जनु चंदन ॥
सुनी बहोरि मातु मृदुबानी । सील-सनेह-सरल-रस सानी ॥

हरिगीतिका छंद

सानी सरल रस मातु बानी, सुनि भरत व्याकुल भये ।
लोचन सरोरुह स्रवत सींचत, बिरह उर अंकुर नये ॥
सो दसा देखत समय तेहि, बिसरी सबहि सुधि देहकी ।
तुलसी सराहत सबहि सादर, सीवँ[3] सहज सनेह की ॥

सोरठा—भरत कमल कर जोरि, धीर धुरंधर धीर धरि ।
बचन अमिय जनु बोरि, देत उचित उत्तर सबहिं ॥६॥

मोहिं उपदेस दीन्ह गुरु नीका । प्रजा सचिव संमत सबहीका ॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा । अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा ॥
गुरु-पितु-मातु-स्वामि-हित-बानी । सुनि मन मुदित करिय भलि जानी ॥
उचित कि अनुचित किये बिचारू । धरम जाइ सिर पातक भारू ॥
तुम्ह तउ देउ सरल सिख सोई । जो आचरत मोर भल होई ॥
जद्यपि यह समुझत हउँ नीके । तदपि होत परितोषु न जीके ॥
अब तुम्ह विनय मोरि सुनि लेहू । मोहि अनुहरत सिखावन देहू ॥
उत्तर देउँ छमब अपराधू । दुखित-दोष-गुन गनहिं न साधू ॥

दोहा—पितु सुरपुर, सिय-राम बन, करन कहहु मोहि राज ।
एहिते जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काज ॥७॥

हित हमार सियपति सेवकाई । सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई ॥
मैं अनुमानि दीख मन माहीं । आन उपाय मोर हित नाहीं ॥

[1] डरते हो । [2] अनुमोदन । [3] सीमा, हद ।

सोक समाज राज केहि लेखे। लषन-राम-सिय-पद बिनु देखे॥
बादि[१] बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति[२] बिनु ब्रह्मबिचारू॥
सरुज[३] सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरि भगति जाय जपजोगा॥
जाय जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सब बिनु रघुराई॥
जाउँ रामपहँ आयसु देहू। एकहि आँक[४] मोर हित एहू॥
मोहि नृप करि भल आपन चहहू। सोउ सनेह जड़ता बस कहहू॥
दोहा—कैकेइ सुअन कुटिल मति, राम बिमुख गत लाज।
तुम्ह चाहत सुख मोहबस, मोहि से अधम के राज॥८॥
कहउँ साँच सब सुनि पतियाहू[५]। चाहिय धरम सील नरनाहू॥
मोहि राज हठि देइहहु जबहीं। रसा[६] रसातल जाइहि तबहीं॥
मोहि समान को पाप निवासू। जेहि लगि सीयराम बनबासू॥
राय राम कहँ कानन दीन्हा। बिछुरत गमन अमरपुर कीन्हा॥
मैं सठ सब अनरथ कर हेतू। बैठि बात सब सुनउँ सचेतू॥
बिनु रघुबीर बिलोकिय बासू[७]। रहे प्रान सहि जग उपहासू॥
राम पुनीत विषय रस रूखे। लोलुप[८] भूमि भोग के भूखे॥
कहँ लगि कहउँ हृदय कठिनाई। निदरि कुलिस[९] जेहि लही बड़ाई॥
दोहा—कारन ते कारज कठिन, होइ दोस नहिं मोर।
कुलिस अस्थितें उपलतें[१०], लोह कराल कठोर॥९॥
कैकेई भव तनु अनुरागे। पावँर[११] प्रान अघाइ[१२] अभागे॥
जौं प्रिय बिरह प्रान प्रिय लागे। देखब सुनब बहुत अब आगे॥
लषन-राम-सिय कहँ बन दीन्हा। पठइ अमरपुर पतिहित कीन्हा॥
लीन्ह बिधवपन अपजस आपू। दीन्हेउ प्रजहिं सोक संतापू॥
मोहिं दीन्ह सुख सुजस सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू॥
एहि तें मोर काह अब नीका। तेहि पर देन कहहु तुम टीका॥

[१]व्यर्थ। [२]वैराग्य। [३]रोगी। [४]निश्चय। [५]विश्वास करो। [६]पृथ्वी। [७]घर। [८]लालची। [९]वज्र। [१०]पत्थर। [११]नीच। [१२]तृप्त होकर।

कैकइ जठर[1] जनमि जग माहीं। यह मोकहँ कछु अनुचित नाहीं ॥
मोरि बात सब बिधिहि बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई ॥
दोहा—ग्रह-ग्रहीत[2] पुनि बात बस, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइय बारुनी[3], कहहु कवन उपचार ॥१०॥
कैकइ सुअन जोग जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहिं सोई ॥
दसरथ तनय राम लघु भाई। दीन्ह मोहिं बिधि बादि बड़ाई ॥
तुम सब कहहु कढ़ावन टीका। राय रजायसु सब कहँ नीका ॥
उतर देउँ केहि बिधि केहि केही। कहहु सुखेन[4] जथा रुचि जेही ॥
मोहि कुमातु समेत बिहाई। कहहु कहिहि को कीन्हि भलाई ॥
मो बिनु को सचराचर माहीं। जेहि सियराम प्रान प्रिय नाहीं ॥
परम हानि सब कर बड़ लाहू। अदिन[5] मोर नहिं दूषन काहू ॥
संसय सील प्रेम बस अहहू। सबइ उचित सब जो कछु कहहू ॥
दोहा—राम मातु सुठि सरल चित, मो पर प्रेम बिसेखि।
कहइ सुभाय सनेस बस, मोरि दीनता देखि ॥११॥
गुरु बिबेक सागर जग जाना। जिन्हहिं बिस्व कर-बदर समाना[6] ॥
मोकहँ तिलक साज सज सोऊ। भये बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ ॥
परिहरि राम सीय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं ॥
सो मैं सुनब सहब सुख मानी। अंतहुँ कीच तहाँ जहँ पानी ॥
डर न मोहिं जग कहहि कि पोचू। परलोकहु कर नाहिंन सोचू ॥
एकइ उर बस दुसह दवारी[7]। मोहिं लगि भे सियराम दुखारी ॥
जीवन जाहु लषन भल पावा। सब तजि राम चरन मन लावा ॥
मोर जनम रघुबर बन लागी। झूठ काह पछिताउँ अभागी ॥
दोहा—आपनि दारुन दीनता, कहउँ सबहिं सिर नाइ।
देखे बिनु रघुनाथ पद, जिय कै जरनि न जाइ ॥१२॥

[1]गर्भ। [2]ग्रह के फेर में पड़ा हुआ। [3]शराब। [4]सुखपूर्वक। [5]दुर्दिन। [6]हाथ में रखे हुए बैर के समान। [7]दावाग्नि।

आन उपाय मोहिं नहिं सूझा । को जिय कै रघुबर बिनु बूझा ॥
एकइ आँक इहइ मन माहीं । प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं ॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी । भइ मोहिं कारन सकल उपाधी ॥
तदपि सरन सनमुख मोहिं देखी । छमि सब करिहहिं कृपा बिसेखी ॥
सील सकुचि सुठि सरल सुभाऊ । कृपा-सनेह-सदन रघुराऊ ॥
अरिहु क अनभल कीन्ह न रामा । मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा ॥
तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी । आयसु आसिष देहु सुबानी ॥
जेहि सुनि बिनय मोहि जन जानी । आवहिं बहुरि राम रजधानी ॥
दोहा—जद्यपि जनम कुमातु तें, मैं सठ सदा सदोस ।
आपन जानि न त्यागिहहिं, मोहि रघुबीर भरोस ॥१३॥
भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे । राम-सनेह-सुधा जनु पागे ॥
लोग वियोग-विषम-बिष दागे । मंत्र सबीज सुनत जनु लागे ॥
मातु सचिव गुरु पुर-नर-नारी । सकल सनेह बिकल भये भारी ॥
भरतहिं कहहिं सराहि सराहि । राम-प्रेम-मूरति-तनु आही ॥
तात भरत अस काहे न कहहू । प्रान समान रामप्रिय अहहू ॥
जों पाँवरु[1] अपनी जड़ताई । तुम्हहिं सुगाइ मातु कुटिलाई ॥
सो सठ कोटिक-पुरुष-समेता । बसहिं कलप सत नरक निकेता ॥
अहि-अघ-अवगुन नहिं मुनि गहई । हरइ गरल[2] दुख दारिद दहई ॥
दोहा—अवसि चलिय बन राम जहँ, भरत मंत्र भल कीन्ह ।
सोक सिंधु बूड़त सबहिं, तुम्ह अवलंबनु दीन्ह ॥१४॥

(२) लंका-दहन

बसन बटोरि बोरि-बोरि तेल तमीचर[3],
खोरि-खोरि धाइ आइ बाँधत लँगूर[4] हैं ।
तैसो कपि कौतुकी[5] डरात ढीलो गात कै-कै,
लात के अघात सहै जी में कहै 'कूर हैं' ॥

[1]नीच । [2]विष । [3]राक्षस । [4]पूँछ । [5]खेलवाड़ी ।

बाल किलकारी कै-कै, तारी दै-दे गारी देत,
पाछे लोग बाजत किसान ढोल तूर[1] हैं।
बालधी[2] बढ़न लागी, ठौर-ठौर दीन्हीं आगि,
बिध की दवारि, कैधों कोटिसत सूर हैं ॥१॥

जहाँ तहाँ बुबुक बिलोकि बुबुकारी देत,
"जरत निकेत धाओ धाओ लागि आगि रे।
कहाँ तात, मात, भ्रात, भगिनी, भामिनी, भाभी,
ढोटे-छोटे छोहरा अभागे भोरे भागि रे॥
हाथी छोरो, घोरा छोरो, महिष वृषभ छोरो,
छेरी छोरो, सोवै सो जगाओ जागि जागि रे।"
'तुलसी' बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं,
"बार बार कह्यो पिय कपि सों न लागि रे!" ॥२॥

"पानी पानी पानी" सब रानी अकुलानी कहैं,
जाति हैं परानी, गति जानि गजचालि है।
बसन बिसारैं, मनि-भूषन सँभारत न,
आनन सुखाने कहैं "क्योंहूँ कोउ पालि है?"
'तुलसी' मँदोवै मींजि हाथ, धुनि माथ कहै,
"काहू कान कियो न मैं कह्यो केतो कालि है।"
बापुरो बिभीषन पुकारि बार बार कह्यो,
"बानर बड़ी बलाइ घने घर घालि है" ॥३॥

लागि लागि आगि, भागि-भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम-धुंध[3] अन्ध,
कहैं बारे बूढ़े 'बारि-बारि' बार-बार हीं॥

[1]तुरही बाजा। [2]पूँछ। [3]धुएँ का धुँधलापन।

हय हिहिनात, भागे जात, घहरात गज,
भारी भीर ठेलि-पेलि रौंदि-खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात, बिललात, अकुलात अति,
"तात तात! तौंसियत, झौंसियत झारहीं" ॥४॥
लपट कराल ज्वाल जालमाल दहूँ दिसि,
धूम अकुलाने पहिचानै कौन काहिरे?
पानी को ललात, बिललात, जरे गात जात,
परे पाइमाल[१] जात, भ्रात! तू निबाहि रे॥
प्रिया तू पराहि, नाथ नाथ! तू पराहि, बाप,
बाप! तू पराहि, पूत पूत! तू पराहि रे।
'तुलसी' बिलोकि लोग ब्याकुल बिहाल कहैं,
लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे॥५॥

(३) हनुमान की युद्ध वीरता

रोष्यो रावन बोलाए बीर बानइत[२],
जानत जे रीति सब सँजुग-समाज की।
चली चतुरंग चमू[३], चपरि हने निसान,
सेना सराहन जोग रातिचर-राज[४] की॥
'तुलसी' बिलोकि कपि-भालु किलकत,
ललकत लखि ज्यों कंगाल पातरी सुनाज की।
राम-रुख निरखि हरषे हिय हनुमान,
मानों खेलवार खोलि सीसताज बाज की॥१॥
तीखे तुरंग कुरंग सुरंगनि साजि चढ़े छँटि छैल छबीले।
भारी गुमान जिन्हैं मन में, कबहूँ न भए रन में तनु ढीले।
'तुलसी' गज-से लखि केहरि लौं झपटे-पटके सब सूर सकीले।
भूमि परे भट घूमि कराहत, हाँकि हने हनुमान हठीले॥२॥

[१]नाश। [२]बाण चलाने वाले। [३]सेना। [४]रावण।

हाथिन सों हाथी मारे, घोरे घोरे सों सँहारे;
रथनि सों रथ बिदरनि, बलवान की।
चंचल चपेट चोट चरन चकोट चाहैं,
हहरानी फौजैं भहरानी[1] जातुधान[2] की॥
बार-बार सेवक-सराहना करत राम,
'तुलसी' सराहै रीति 'साहेब सुजान की।
लाँबी लूम लसत लपेटि पटकत भट,
देखौ देखौ, लखन! लरनि हनुमान की॥३॥
दबकि दबोरे[3] एक, बारिधि में बोरे एक,
मगन मही में एक गगन उड़ात हैं।
पकरि पछारे कर, चरन उखारे एक,
चीरि फारि डारे, एक मींजि मारे लात हैं॥
'तुलसी' लखत राम-रावन, बिबुध[4], बिधि[5],
चक्रपानि[6], चंडीपति[7], चंडिका[8] सिहात हैं।
बड़े-बड़े बानइत बीर बलवान बड़े,
जातुधान जूथप निपाते[9] बातजात[10] हैं॥४॥
जातुधानावली – मत्त– कुंजर – घटा,
निरखि मृगराज जनु गिरि ते टूट्यो।
बिकट चटकन चपट, चरन गहि पटकि महि,
निघटि[11] गए सुभट, सत सबको छूट्यो॥
'दास तुलसी' परत धरनि, धरकत झुकत,
हाट–सी उठति जंबुकनि[12] लूट्यो।
धीर रघुबीर को बीर रन-बाँकुरो,
हाँकि हनुमान कुलि कटक कूट्यो॥५॥

[1]मुँह के बल गिर पड़ी। [2]राक्षस। [3]दबोच लिया। [4]देवता। [5]ब्रह्मा। [6]विष्णु भगवान। [7]महादेव। [8]कालिका। [9]मार डाले। [10]हनुमान। [11]कम हो गये। [12]स्यारों ने।

ओझरी[१] की झोरी काँधे, आँतनि की सेल्ही[२] बाँधे,
मूड़ के कमंडलु, खपर किये कोरि कै।
जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापस-सी,
तीर-तीर बैठीं सो समर-सरि खोरि[३] कै॥
सोनित[४] सों सानि सानि गूदा खात सतुआ-से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।
'तुलसी' बैताल भूत साथ लिए भूतनाथ[५],
हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै॥६॥

---

[१]आशय। [२]साफ़ा, पगड़ी। [३]स्नान करके। [४]खून। [५]महादेव।

३—मीराबाई

मीराबाई का जन्म सं० १५७३ में चौकड़ी नामक ग्राम में हुआ। यह मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री थीं। इनका विवाह चित्तौर के राना साँगा के पुत्र भोजराज के साथ हुआ था। यह बचपन ही से कृष्णभक्ति में लीन रहा करती थीं। विवाह के कुछ वर्षों के बाद यह विधवा हो गईं। यह प्रायः मंदिरों में जाकर सन्तों के बीच श्रीकृष्ण की मूर्त्ति के सामने गातीं और नाचती थीं। इनके इस व्यवहार से राजकुल के लोग इनसे रुष्ट रहा करते थे। कहा जाता है कि इन्हें मार डालने के विचार से इन्हें विष तक दिया गया, पर भगवत्-कृपा से यह बच गईं।

मीरा की उपासना माधुर्य भाव की थी। यह अपने इष्ट देव को पति-रूप में मानतीं थीं। इनकी उपासना में रहस्य का समावेश है। मीरा की गणना भारत के उच्चकोटि के प्रधान भक्तों में है। इनकी रचना गेय-पदों में है, जिनमें आन्तरिक भावों की बड़ी ऊँची व्यंजना मिलती है। इनके पदों में प्रेम की तल्लीनता पाई जाती है। ईश्वर-वियोग-जनित वेदना इनका मुख्य विषय है। इनकी रचना राजस्थानी मिश्रित ब्रज भाषा में है। इनके रचित चार ग्रन्थ हैं—रागगोविंद, रागसोरठ, गीतगोविंद-टीका और नरसीजी का मायरा। मीरा की मृत्यु सं० १६०३ में द्वारकाजी में हुई।

पदावली

बसो मोरे नैनन में नँदलाल।

मोहनी मूरत साँवरी सूरत, नैना बने बिसाल।
अधर[१] सुधारस मुरली राजति, उर बैजन्ती[२] माल॥
छुद्रघंटिका[३] कटि तट सोभित, नूपुर सबद रसाल[४]।

[१]होंठ। [२]वैजयन्ती पुष्प। [३]करधनी। [४]मधुर।

'मीरा' प्रभु संतन सुखदाई, भगत-बछल[1] गोपाल ॥१॥

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई ।
जाके सिर मोर मुकट मेरो पति सोई ॥
छाँड़ि दई कुल की कानि[2] कहा करिहै कोई ।
संतन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोई ॥
अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम-बेलि बोई ।
अब तो बेलि फैलि गई आनँद फल होई ॥
भगति देखि राजि[3] हुई, जगत देखि रोई ।
दासी 'मीरा' लाल गिरिधर तारो अब मोई[4] ॥२॥

मैं गोबिँद के गुन गाना ।
राजा रूठै नगरी राखै, हरि रूठ्याँ कहँ जाना ।
राना भेजा जहर पियाला, अमरित[5] करि पी जाना ॥
डिबिया में भेज्या जु भुजंगम, सालिगराम करि जाना ।
'मीरा' तो अब प्रेमदिवानी[6], साँवलिया बर पाना ॥३॥

करम गति टारे नाहिं टरै ।
सतबादी हरिचंद से राजा, सो तो नीचघर नीर भरे ।
पाँच पांडु अरु सती द्रौपदी, हाड़ हिमालय गरे ॥
जग्य कियो बलि लेन इन्द्रासन, सो पाताल धरे ।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, बिष से अमरित करे ॥४॥

मन रे परसि हरि के चरन ।
सुभग सीतल कमल कोमल, त्रिबिध[7] ज्वाला हरन ।
जे चरन प्रहलाद परसे, इन्द्र पदवी धरन ॥
जिन चरन ध्रुव अटल कीन्हों, राखि अपने सरन ।

[1]भक्तों पर वात्सल्य (स्नेह) करनेवाले । [2]लाज, मर्यादा । [3]प्रसन्न हुई । [4]मुझे । [5]अमृत । [6]पगली । [7]दैहिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ये तीन प्रकार के ताप कहे गये हैं ।

जिन चरन ब्रह्माण्ड भेंट्यो, नखसिखौ श्री भरन ॥
जिन चरन प्रभु परसि लीने, तरी गौतम घरन[1] ।
जिन चरन कालीहि नाथ्यो, गोपलीला करन ॥
जिन चरन धार्‌यो गोबर्धन, गरब मघवा[2] हरन ।
दासि 'मीरा' लाल गिरिधर, अगम तारन तरन ॥५॥

राम नाम रस पीजे मनुआँ[3], राम नाम रस पीजे ।
तज कुसंग सतसंग बैठि नित, हरि चरचा सुनि लीजे ॥
काम क्रोध मद लोभ मोह कूं, चित से दूर करीजे ।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, ताहि के रंग में भीजे ॥६॥

घुंघरू बाँध मीरा नाची रे, पग घुंघरू ।
लोग कहैं मीरा हो गइ बावरी, सास कहै कुल नासी रे । पग०
जहर का प्याला रानाजी ने भेजा, पीवत मीरा हाँसी रे । पग०
मैं तो अपने नारायण की, हो गई आपहि दासी रे । पग०
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, बेग मिलो अबिनासी[4] रे । पग०
पग घुंघरू बाँध मीरा नाची रे, पग घुंघरू ॥७॥

ऐसी लगन लगाए कहाँ तू जासी[5] ।
तुम देख्याँ बिन कल न परत है, तलफि तलफि[6] जिव जासी ।
तेरे खातिर जोगण[7] हूँगी, करवत लूंगी कासी ।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, चरण कँवल की दासी ॥८॥

---

[1]पत्नी, गृहिणी । [2]इन्द्र । [3]मन । [4]अनन्त ब्रह्म । [5]जा रहे हो । [6]तड़पकर ।
[7]संन्यासिनी ।

४—नरोत्तमदास

यह ज़िला सीतापुर के बाड़ी नामक कसबे के रहनेवाले थे। इनके जन्म-काल का ठीक-ठीक प्रामाणिक पता तो नहीं है, परन्तु शिवसिंह-सरोज में इनका सं० १६०२ में वर्तमान रहना बताया गया है। मिश्रबंधुओं का अनुमान है कि ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुदामा-चरित' ब्रजभाषा का बहुत सुंदर काव्य है। इसकी भाषा परिमार्जित और व्यवस्थित है। यह चरित्र-आदर्श-प्रधान काव्य है। इसकी रचना नाटकीय शैली पर कथोपकथन से युक्त है। कवि ने सुदामा के घर की दरिद्रता का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। एक दरिद्र होते हुए भी सुदामा का आत्माभिमान तथा द्वारकाधीश होते हुए श्रीकृष्ण का सुदामा जैसे दरिद्र मित्र के साथ सन्मैत्री का बर्ताव हमारे सामने प्राचीन भारतीय गौरव का आदर्श उपस्थित करता है। 'सुदामा-चरित' के अतिरिक्त इनकी और कोई रचना उपलब्ध नहीं है। जान पड़ता है कि यह असमय में ही काल-कवलित हो गये थे।

"सुदामा-चरित"

दोहा—बिप्र सुदामा बसत हो[1], सदा आपने धाम।
भिच्छा करि भोजन करै, हिये जपै हरिनाम ॥१॥
ताकी घरनी पतिब्रता, गहै बेद की रीति।
सलज सुसील सुबुद्धि अति, पति-सेवा सों प्रीति ॥२॥
कही सुदामा एक दिन, कृस्न हमारे मित्र।
करत रहति उपदेस तिय, ऐसो परम-विचित्र ॥३॥

स्त्री—महादानि जिनके हितू, जदु-कुल-कैरव-चंद[2]।
ते दारिद-संताप तें, रहैं न किमि निरद्वंद[3] ॥४॥

[1]था। [2]यदुवंश रूपी कुमुद के चन्द्रमा। [3]निश्चिन्त।

कही सुदामा बाम ! सुनु, वृथा और सब भोग ।
सत्य-भजन भगवान को, धर्म-सहित जप जोग ॥५॥

कवित्त

स्त्री—लोचन-कमल दुख-मोचन तिलक भाल, स्रवननि कुंडल मुकुट धरे माथ हैं ।
ओढ़े पीत बसन गरे मों बैजयंती माल, संख चक्र गदा और पद्म लिए हाथ हैं ॥
कहत नरोतम संदीपन गुरु[1] के पास, तुम ही कहत हम पढ़े एक साथ हैं ।
द्वारिका के गये हरि दारिद हरैंगे पिय, द्वारिका के नाथ वे अनाथन के नाथ हैं ॥६॥

सवैया

सुदामा—सिच्छक हौं सिगरे जग को तिय ! ताको कहा अब देति है सिच्छा ।
जे तप के परलोक सुधारत संपति की तिनके नहीं इच्छा ॥
मेरे हिये हरि के पद-पंकज, बार हजार लै देखु परिच्छा ।
औरन को धन चाहिय बावरि, बाँभन को धन केवल भिच्छा ॥७॥

स्त्री—दानी बड़े तिहुँ लोकन मैं जग जीवत नाम सदा जिन को लै ।
दीनन की सुधि लेत भली बिधि, सिद्धि करौ पिय मेरो मतो लै ॥
दीनदयाल के द्वार न जात सो, औरके द्वार पै दीन ह्वै बोलै ।
श्री जदुनाथ से जाके हितू, सो तिहूँ पन क्यों कन माँगत डोलै ॥८॥

सुदामा—छत्रिन के पन जुद्ध जुवा, दल साजि चढ़ैं गज बाजिनहीं ।
बैस को बानिज और कृषी, पन सूद्र को सेवन-साजनहीं ॥
बिप्रन को पन है जु यही, सुख संपति सों कछु काज नहीं ।
कै पढ़िबो कै तपोधन है, कन माँगत बाँभनै लाज नहीं ॥९॥

स्त्री—कोदो सवाँ जुरतो भरि पेट, न चाहति हौं दधि दूध मिठौती ।
सीत बितीतत जौ सिसियात, तो हौं हठती पै तुम्हैं न हठौती ॥
जौ जनती न हितू हरि सों, तो मैं काहे को द्वारिका ठेलि पठौती ।
या घर तें न गयो कबहूँ पिय ! टूटो तवा अरु फूटी कठौती ॥१०॥

सुदामा—छाँड़ि सबै जक तोहि लगी बक, आठहु जाम[2] यहै मन ठानी ।

[1] उज्जयिनी के आचार्य ऋषि स्यान्दीपनि कृष्ण और सुदामा के गुरु थे । [2] याम, पहर ।

जातहि दैहैं लदाय लढ़ा[१], भरि लैहौं लदाय यहै जिय जानी ॥
पैये कहाँ ते अटारी अटा, जिनको विधि दीन्हीं है टूटी-सी छानी ।
जौ पै दरिद्र लिखो है ललाट, तो काहू पै मेटि न जात अजानी ॥११॥
स्त्री—पूरन पैज करी पहलाद की, खंभ सों बाध्यो पिता जिहि बेरे[२] ।
द्रौपदी ध्यान धरो जबहीं, तबहीं पट-कोट लगे चहुँ फेरे ॥
ग्राह तें छूटि गजेंद्र गयो, पिय ! है हरि को निहचै जिय मेरे ।
ऐसे दरिद्र हजार हरैं, वे कृपानिधि लोचन-कोर के हेरे ॥१२॥
सुदामा—चक्कवै[३] चौंकि रहे चकि-से, तहाँ भूल-से भूप अनेक गनाऊँ ।
देव गँधर्व औ किन्नर जच्छ के, साँझ लौं देखे खरे जिहि ठाऊँ ॥
तैं दरबार बिलोक्यो नहीं, अब तोहि कहा कहि कै समुझाऊँ ।
रोकिए लोकन के मुखिया, तहँ हौं दुखिया किमि पैठन पाऊँ ॥१३॥
स्त्री—भूले-से भूप अनेक खरे रहे, ठाढ़े थके तिमि चक्कवै भारी ।
देव गँधर्व औ किन्नर जच्छ से, रोके जे लोकन के अधिकारी ॥
अन्तरयामी वै आपुही जानिहैं, मानों यही सिख आजु हमारी ।
द्वारिकानाथ कै द्वारे गये, सबतें पहिले सुधि लैहैं तुम्हारी ॥१४॥
सुदामा—दीनदयाल को ऐसोइ द्वार है, दीनन की सुधि लेत सदाई ।
द्रौपदी तें गज तें, पहलाद तें, जानि परी न बिलंब लगाई ॥
याही तें भावत मो-मन दीनता, जौ निबहै निबही जस आई ।
जौ ब्रजराज सों प्रीति नहीं, केहि काज सुरेसहु की ठकुराई[४] ॥१५॥

कवित्त

स्त्री— फाटे-पट टूटी-छानि खायो भीख माँगि आनि,
बिना जग्य बिमुख रहत देव पित्रई ।
वैहैं दीनबंधु दुखी देखिकै दयालु ह्वैहैं,
दैहैं कछु भलो सो हौं जानत अगत्रई[५] ॥

[१]छकड़ा गाड़ी । [२]समय, बेला । [३]चक्रवर्ती राजा । [४]प्रभुत्व । [५]पहले ही से ।

द्वारिका लौं जात पिय ! केतौ अलसात तुम,
काहे को लजात भई कौन-सी विचित्रई ।
जो पै सब जनम ही दरिद्र सतायो तो पै,
कौने काज आइहै कृपानिधि की मित्रई ॥१६॥

सुदामा— तैं तो कही नीकी सुनि बात हित ही की,
यही रीति मितई[1] की नित प्रीति सरसाइए ।
मित्र के मिले तें चित्त चाहिये परसपर,
मित्र के जो जेंइए तो आपहु जेंवाइए ॥
वे हैं महाराज जोरि बैठत समाज भूप,
तहाँ यहि रूप जाइ कहा सकुचाइए ।
सुख दुख करि दिन काटे ही बनैंगे,
भूलि विपति परै पै द्वार मित्र के न जाइए ॥१७॥

स्त्री— बिप्र के भगत हरि जगत बिदित बंधु,
लेते सब ही की सुधि ऐसे महादानि हैं ।
पढ़े एक चटसार[2] कही तुम कैयो बार,
लोचन अपार वै तुम्हैं न पहिचानिहैं ॥
एक दीनबंधु, कृपासिंधु, फेरि गुरुबंधु,
तुम-सम कौन दीन जाको जिय जानिहैं ।
नाम लेत चौगुनी, गए तें द्वार सौगुनी सो,
देखत सहसगुनी प्रीति प्रभु मानिहैं ॥१८॥

सवैया

सुदामा—प्रीति मैं चूक न है उनके, हरि मो मिलिहैं उठि कंठ लगाय कै ।
द्वार गये कछु देहैं भलो हमैं, द्वारिकानाथ जू हैं सब लायकै ॥
या बिधि बीति गए पन द्वै, अब तौ पहुँचो बिरधापन आयकै ।
जीवन केतो है जाके लिये, हरि सों अब होहुँ कनावड़ो[3] जायकै ॥१९॥

[1]मित्रता । [2]पाठशाला । [3]आभारी ।

स्त्री— हूजै कनावड़ो बार हजार लौं, जौ हितू दीनदयाल सौं पाइए ।
तीनहु लोक के ठाकुर हैं, तिनके दरबार न जात लजाइए ॥
मेरी कही जिय मैं धरिकै पिय !, और न भूल प्रसंग चलाइए ।
और के द्वार सो काज कहा, पिय ! द्वारिकानाथ के द्वारे सिधाइए ॥२०॥

सुदामा—द्वारिका जाहु जू द्वारिका जाहु जू, आठहु जाम यहै जक तेरे ।
जो न कहो करिये तो बड़ो दुख, जैय कहाँ अपनी गति हेरे ॥
द्वार खरे प्रभु के छरिया[1], तहँ भूपति जान न पावत नेरे ।
पाँच सुपारी तैं देखु बिचारि कै, भेंट कौ चारि न चाउर मेरे ॥२१॥

दोहा—यह सुनि कै तब बाभनी, गई परोसिनि-पास ।
पाव-सेर[2] चाउर लिए, आई सहित-हुलास ॥२२॥
सिद्धि करी[3] गनपति सुमिरि, बाँधि दुपटिया-खूंट ।
माँगत खात चले तहाँ, मारग बाली बूट ॥२३॥
तीन दिवस चलि बिप्र के, दूखि उठे जब पाँय ।
एक ठौर सोए कहूँ, घास-पयार बिछाय ॥२४॥
अंतरजामी आपु हरि, जानि भगत की पीर ।
सोवत लै ठाढ़ो कियो, नदी गोमती तीर ॥२५॥
प्रात गोमती-दरस तें, अति प्रसन्न भो चित्त ।
बिप्र तहाँ असनान करि, कीन्हों नित्त-निमित्त ॥२६॥
भाल तिलक घसिकै दियो, गही सुमिरिनी हाथ ।
देखि दिव्य-द्वारावती, भयो अनाथ सनाथ ॥२७॥

कवित्त

दीठि चकचौंधि गई देखत सुबर्नमई,
एक तें सरस एक द्वारिका के भौन हैं ।
पूछे बिन कोऊ कहूँ काहू सों न करै बात,
देवता-से बैठे सब साधि-साधि मौन हैं ॥

[1]संतरी, पहरेदार । [2]एक पाव । [3]प्रस्थान किया ।

देखत सुदामै धाय पौरजन गहे पाय,
"कृपा करि कहौ बिप्र कहाँ कीन्हों गौन हैं ।"
"धीरज अधीर के, हरन पर-पीर के,
बताओ बलबीर के महल यहाँ कौन हैं" ॥२८॥

दोहा

दीन जानि काहू पुरुष, करि गहि लीन्हों आय ।
दीनहि द्वार खरो कियो, दीनद्याल के जाय ॥२९॥
द्वारपाल द्विज जानिकै, कीन्हों दंड-प्रनाम ।
"बिप्र! कृपा करि भाखिये, सकुल आपनो नाम" ॥३०॥
सुदामा— नाम सुदामा कृस्न हम, पढ़े एक ही साथ ।
कुल पाँडे, ब्रजराज सुनि, सकल जानिहैं गाथ ॥३१॥
द्वारपाल चलि तहँ गयो, जहाँ कृस्न-जदुराय ।
हाथ जोरि ठाढ़ो भयो, बोल्यो सीस नवाय ॥३२॥

सवैया

द्वारपाल—सीस पगा[1] न झगा[2] तन में, प्रभु! जानै को आहि बसै केहि ग्रामा ।
धोती फटी-सी लटी[3] दुपटी, अरु पाँय उपानह की नहिं सामा ॥
द्वार खरो द्विज दुर्बल देखि, रहो चकि-सो बसुधा अभिरामा ।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा ॥३३॥

कवित्त

बोल्यो द्वारपालक 'सुदामा नाम पाँड़े' सुनि,
छाँड़े राज-काज ऐसे जी की गति जानै को ?
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पाँय,
भेंटे लपटाय करि ऐसे दुख सानै को ?
नैन-दोऊ जल भरि पूंछत कुसल हरि,
बिप्र बोल्यो "बिपदा में मोहि पहिचानै को ?

[1]पगड़ी । [2]कुरता । [3]मैली ।

जैसी तुम कीन्हीं तैसी करै को कृपा के सिन्धु,
ऐसी प्रीति दीनबन्धु ! दीनन सों मानै को" ? ॥३४॥

दोहा

भेंटि भली बिधि बिप्र सों, कर गहि त्रिभुवनराय ।
अंतःपुर को लै गए, जहाँ न दूसर जाय ॥३५॥
मनिमंडित[१] चौकी-कनक, ता ऊपर बैठाय ।
पानी धर्‍यो परात में, पग धोवन को लाय ॥३६॥
जिनके चरनन कौ सलिल, हरत जगत-संताप ।
पाँय सुदामा बिप्र के, धोवत ते हरि आप ॥३७॥

सवैया

ऐसे बेहाल बेवाइन[२] सों पग, कंटक जाल लगे पुनि जोए ।
"हाय ! महादुख पायो सखा ! तुम आये इतै न कितै दिन खोए" ॥
देखि सुदामा की दीन दसा, करुना करिकै करुनानिधि रोए ।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सों पग धोए ॥३८॥

दोहा

श्रीकृष्ण—कछु भाभी हमकौं दियो, सो तुम काहे न देत ।
चाँपि पोटरी काँख में, रहे कहौ केहि हेत ॥३९॥
खोलत सकुचत गाँठरी, चितवत हरि की ओर ।
जीरन-पट फटि छुटि परे, बिखरि गयो तेहि ठौर ॥४०॥
एक मुठी हरि भरि लई, लीनी मुख मैं डारि ।
चबत चबाउ[३] करन लगे, चतुरानन त्रिपुरारि ॥४१॥

सवैया

काँपि उठी कमला मन सोचत, मोसों कहा हरि को मन औंको[४] ?
रिद्धि कँपी सब सिद्धि[४] कँपी, नव निद्धि[५] कँपी बम्हना यह धौंको ॥

[१]रत्न-जटित । [२]पैर में फटनेवाले दर्रे । [३]चर्चा । [४]सिद्धियाँ आठ प्रकार की हैं, यथा—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व । [५]निधियाँ

सोच भयो सुरनायक के जब दूसरी बार लियो भरि झौंको ।
मेरु डर्‌यो "बकसैं जनि मोहिं" कुबेर चबावत चाउर चौंको ॥४२॥
भौन भरे पकवान मिठाइन, लोग कहैं निधि है सुषमा के ।
साँझ सबेरे चितै अभिलाषत, दाख न चाखत सिंधु रमा के ॥
बाँभन एक कोऊ दुखिया सेर-पावक चाउर लायो समा[1] के ।
प्रीति की रीति कहा कहिये, तेहि बैठि चबात हैं कंत रमा के ॥४३॥

दोहा

मुठी दूसरी भरत ही, रुकुमिनि पकरी बाँह ।
ऐसी तुम्हें कहा भई, संपति की अनचाह ॥४४॥
कही रुकुमिनी कान में, यह धौं कौन मिलाप ।
करत सुदामा आप सों, होत सुदामा आप ॥४५॥

सवैया

हाथ गह्यो प्रभु को कमला कहै नाथ कहा तुमनै चित धारी ।
तंदुल खाय मुठी दुइ, दीन कियो तुमने दुइ लोक बिहारी ॥
खाई मुठी तिसरी अब नाथ ! कहाँ निज बास की आस बिचारी ।
रंकहि आप समान कियो तुम, चाहत आपहि होन भिखारी ॥४६॥

दोहा

सात दिवस यहि बिधि रहे, दिन-दिन आदर-भाव ।
चित्त चलो घर चलन को, ताकर सुनो बनाव ॥४७॥
बस्त्रादिक बहु भाँति के, पहिराए सुखदाय ।
करि प्रनाम कर जोरि कै, बोले त्रिभुवनराय ॥४८॥

सवैया

श्रीकृष्ण—धन्य कहा कहिए द्विज जू तुम सों जग कौन उदार प्रबीनो ।
पाछिली प्रीति निबाही भली बिधि, दोष निवारि कै रोष न कीनो ॥

नौ प्रकार की हैं, यथा—पद्म, महापद्म, कच्छप, नील, मकर, मुकुंद, शंख, खर्व, नन्द ।

[1] सांवा का चावल ।

हौं द्विज के चरनोदक हेतु, अजन्म कहाय कै जन्म सु लीनो ।
आवन कै निज पावन[1] सों यहाँ मों सो अपावन पावन[2] कीनो ॥४९॥

दोहा

देनो हुतो सो दै चुके, बिप्र न जानी गाथ ।
चलती बेर गोपाल जू, कछू न दीन्हों हाथ ॥५०॥

सुदामा (स्वगत)—वह पुलकनि वह उठि मिलनि, वह आदर की भाँति ।
यह पठवनि गोपाल की, कछू न जानी जाति ॥५१॥
घर घर कर ओड़त[3] फिरे, तनक दही के काज ।
कहा भयो जो अब भयो, हरि को राज-समाज ॥५२॥
हौं आवत नाहीं हुतो, बामहि पठयो ठेलि ।
अब कहिहौं समुझाइकै, बहु धन धरौ सकेलि[4] ॥५३॥
बालापन के मित्र हैं, कहा देउँ मैं साप ।
जैसो हरि हमको दियो, तैसो पइहैं आप ॥५४॥
इमि सोचत-सोचत झखत, आयो निज पुर तीर ।
दीठि परी इकबार ही, हय गयंद की भीर ॥५५॥
हरि-दरसन तें दूरि दुख, भयो गयो निज देस ।
गौतम-रिषि को नाउँ लै, कीन्हों नगर-प्रबेस ॥५६॥

सवैया

वैसई राज समाज वेई, गज बाजि घने मन संभ्रम छायो ।
"कैधों परयों कहुँ मारग भूलिकै, कै अब फेरि हौं द्वारिकै आयो" ॥
भौन बिलोकिबे को मग लोचन सोंचत ही सब गाँव मझायो ।
पूछि भे पाँड़े कथा सब सों, फिरि झोपरि को कहुँ सोधु न पायो ॥५७॥

कवित्त

सुदामा (स्वगत)—जगर-मगर[5] जोति छाय रही चहुँओर,
अगर-बगर[6] हाथी-घोरन को सोर है ।

[1] पैरों से । [2] पवित्र । [3] फैलते, पसारते । [4] इकट्ठा करके । [5] जगमग चमक । [6] इधर

चौपर को बनो है बजार पुनि सोनेन के,
महल दुकान की कतार चहुँ ओर है ॥
भीर-भार धकापेल चहूँ-दिसि देखियत,
द्वारिका तें दूनो यहाँ प्यादन को जोर है ।
रहिबे को ठाम है न, काहू सों पिछान मेरी,
बिन जाने बसे कोऊ हाड़ मेरे तोर है ॥५८॥

फूटी एक थारी बिन टोटनी की झारी हुती,
बाँस की पिटारी औ कँथारी[1] हुती टाट की ।
बेंटे बिन छुरी औ कमंडलु सौ टूक वहौ,
फटे हुते पावौ पाटी टूटी एक खाट की ॥
पथरौटा, काठ को कठोता कहूँ दीसै नाहिं,
पीतर को लोटो हो, कटोरो हो न बाटकी[2] ।
कामरी फटी-सी हुती डोंड़न की माला[3] ताक,
गोमती की माटी की न सुधि कहूँ माट की ॥५९॥

चौतरा उजारि कोऊ चामीकर[4]-धाम कियो,
छानी तौ उपारी डारी छाई चित्रसारी जू ।
जो हौं होतो घर तो पै काहे को उठन देतो,
होनहार ऐसी, खोटी दसाई हमारी जू ॥
हौं तो हो न, काहू लोभ लाहु को दिखाय वाहि,
महल उठाय लयो हाय ! सुखागारी जू ।
लामीलूम वारी दुःख भूख को दलनहारी,
गैया बनवारी[5] काहू सोऊ मारि डारी जू ॥६०॥

दोहा

कनक-दंड कर में लिए, द्वारपाल हैं द्वार ।
जाय दिखायो सबनि लै, या है महल तुम्हार ॥६१॥

उधर, दायें बायें । [1]गूदड़, कथरी । [2]बटुआ । [3]कंठमाला । [4]सोना । [5]वन में चरनेवाली ।

कही सुदामा हसँत हौ, ह्वै करि परम प्रवीन।
कुटी दिखावहु मोंहि वह, जहाँ बाँभनी दीन ॥६२॥
द्वारपाल सों तिन कही, कहि पठवहु यह गाथ।
आए बिप्र महाबली, देखहु होहु सनाथ ॥६३॥
सुनत चली आनंदयुत, सब सखियन लै संग।
नूपुर किंकिनि दुंदुभी, मनहु काम चतुरंग ॥६४॥
कही बाँभनी आयकै, यहै कंत निज गेह।
श्री जदुपति तिहुँलोक में, कीन्हों प्रगट सनेह ॥६५॥
सुदामा—हमैं कंत तुम जनि कहौ, बोलौ बचन सँभारि।
इहै कुटी मेरी हती, दीन बापुरी नारि ॥६६॥
स्त्री— मैं तो नारि तिहारियै, सुधि सँभारिए कंत।
प्रभुता सुंदरता दई, अद्भुत श्री भगवंत ॥६७॥

कवित्त

सुदामा—टूटी-सो मडैया मेरी परी हुती यही ठौर,
तामें परो दुःख काँटौ कहाँ हेम-धाम[1] री।
जेवर-जराऊ तुम साजे प्रति अंग अंग,
सखी सोहैं संग वह छूछी हुती छाम[2] री ॥
तुम तौ पटंबर[3] री! ओढ़े हौ किनारीदारी,
सारी जरतारी[4], वह ओढ़े कारी कामरी।
मेरी वा पँड़ाइन तिहारी अनुसार ही पै,
बिपदा-सताई वह पाई कहाँ पामरी[5] ॥६९॥

दोहा

समुझायो निज कंत को, मुदित गई लै गेह।
अन्हवायो तुरतहिं उबटि, सुचि सुगंध सों देह ॥७०॥

[1]सोने का महल। [2]दुबली। [3]रेशमी वस्त्र। [4]ज़री तार की। [5]बेचारी।

पूज्यो अधिक सनेह सों, सिंहासन बैठाय।
सुचि सुगंध अंबर रचे, बर-भूषन पहिराय ॥७०॥
उठे पहिरि अंबर रुचिर, सिंहासन पर आय।
बैठे प्रभुता देखि कै, सुरपति रह्यो लजाय ॥७१॥

सवैया

कै वह टूटी-सी छानी हुती, कहँ कंचन के सब धाम सुहावत।
कै पग में पनही न हुती, कहँ लै गजराजहु ठाढ़े महावत ॥
भूमि कठोर पै रात कटै, कहँ कोमल सेज पै नींद न आवत।
कै जुरतो नहीं कोदो सवाँ, प्रभु के परताप तें दाख न भावत ॥७२॥

दोहा

धन्य धन्य जदुवंस मनि, दीनन पै अनुकूल।
धन्य सुदामा सहित तिय, कहि बरषहिं सुर फूल ॥७३॥
बिप्र सुदामा सहित तिय, उमगे परमानंद।
नित-प्रति सुमिरन करत हैं, हिय-धरि करुनाकंद ॥७४॥

५—गंग

गंग कवि बड़े प्रतिभाशाली और बादशाह अकबर के दरबारी कवि थे। इनका जन्म संवत् १६१० के आसपास का अनुमान किया जाता है। यह स्वभाव के बड़े ही अक्खड़ और निर्भीक थे। यह किसी नवाब या राजा की आज्ञा से हाथी से चिरवा डाले गये थे। यह अपने समय के प्रधान कवि थे। इनके एक ही छप्पय पर अब्दुर्रहीम खानखाना ने इन्हें ३६ लाख रुपये दे डाले थे।

मालती सवैया

तारा की जोत में चन्द्र छिपे नहिं, सूर छिपे नहिं बादर छाए।
रन्न[1] चढ़े रजपूत छिपे नहिं, दाता छिपे नहिं माँगन आए॥
चंचल नारि को नैन छिपे नहिं, प्रीति छिपे नहिं पीठ दिखाए।
'गंग' कहै सुनु शाह अकब्बर, कर्म छिपे न भभूत लगाए॥१॥

कवित्त

कहेते न समझे न समझाए समझे,
सुकबि लोग कहैं ताहि मानत असार सी।
काक को कपूर जैसे मरकट को भूषण ज्यों,
ब्राह्मण को मक्का जैसे मीर को बनारसी[2]॥
बहिरे के आगे तान गाये तो सवाद जैसे,
हिंजड़े[3] के आगे नारि लागत अँगार सी।
कहैं कवि 'गंग' मन माहिं तो विचार देखो,
मूढ़ आगे विद्या जैसे अंधे आगे आरसी[4]॥२॥

छप्पय

बुरो प्रीति को पंथ, बुरो जंगल को बासो।
बुरो नारि को नेह, बुरो मूरख सो हासो॥

[1]रण, युद्ध। [2]वाराणसी, काशी। [3]नपुंसक। [4]दर्पण।

बुरो सूम की सेव, बुरो भगिनी पर भाई।
बुरी कुलच्छन नारि, सास घर बुरो जमाई[१] ॥
बुरो पेट पंपाल[२] है, बुरो युद्ध से भागनो।
'गंग' कहै अकबर सुनो, सब से बुरो है माँगनो ॥३॥

कवित्त

प्रबल प्रचंड बली बैरम के खानखाना,
तेरी धाक दीपन दिसान दह दहकी।
कहै कवि 'गंग' तहाँ भारी सूर बीरन के,
उमड़ि अखंड दल प्रलै पौन लहकी ॥
मच्यो घमसान तहाँ तोप तीर बान चलै,
मंडि बलवान किरपान कोपि गहकी।
तुंड काटि मुंड काटि जोसन[३] जिरह[४] काटि,
नीमा[५] जामा जीन काटि जिमि आनि ठहकी ॥४॥

झुकत कृपान मयदान ज्यों उदोत भान,
एकन तें एक मनो सुखमा जरद की।
कहैं कवि 'गंग' तेरे बल की बयारि लागे,
फूटी गज घटा घन घटा ज्यों सरद की ॥
एते मान सोनित की नदियाँ उमड़ि चलीं,
रही न निसान कहूँ मही में गरद की।
गौरी गह्यो गिरिपति गनपति गह्यो गौरी,
गौरीपति गह्यो पूँछ लपकि बरद की ॥५॥

फूट गये हीरा की बिकानी कनी हाट हाट,
काहू घाट मोल, काहू बाढ़ मोल को लयो।
टूट गई लंका फूट मिल्यो जो बिभीषण है,
रावन समेत बंस आसमान को गयो ॥

[१]दामाद। [२]पापी। [३]कवच। [४]लोहे का बख्तर। [५]छोटा जामा।

कहैं कवि 'गंग' दुरजोधन से छत्रधारी,
तनक में फूटे ते गुमान वाको नै गयो।
फूटे तें नरद[1] उठि जात बाजी चौसर को,
आपुस के फूटे कहु कौन को भलो भयो ॥६॥
आवत हौं चले शिव शैल ते गिरीश जाँचे,
मिल्यो हुतो मोहि जहाँ सागर सगर को।
कविन की रसना की पालकी पै चढ़ो जात,
संग सोहै रावरो प्रताप तेज बर को ॥
कवि 'गंग' पूछी तुम को हौ कित जैहौ, उन
कह्यो मोसों हँसि कै सनेसो ऐसो थरको।
जस मेरो नाम मेरो दसो दिसि काम, मेरो
कहियो प्रनाम हौं गुलाम बीरबर को ॥७॥

---

[1] चौसर की गोट।

६—अब्दुर्रहीम खानखाना

यह बादशाह अकबर के अभिभावक मुगल सरदार बैरम खाँ खानखाना के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १६१० में हुआ था। यह संस्कृत, अरबी, और फारसी के पूर्ण पण्डित थे। भाषा पर इनका बड़ा अधिकार था। इनके दोहों में तुलसी की मार्मिकता और भावुकता टपकती है। इन्हें संसार का बड़ा गहरा अनुभव था। यह बड़े ही उदार हृदय-दानी और वीर थे। एक बार इन्होंने गंग कवि को उनकी काव्य-रचना पर मुग्ध होकर ३६ लाख रुपये दे दिए थे। अंत समय में यह विरक्त होकर वृन्दावन चले गए थे और वहाँ साधु-भेष में रहकर कीर्तन-भजन किया करते थे। इनकी मृत्यु सं० १६८३ में हुई।

रहिमन-रहस्य

दोहा

अच्युत[१]-चरणतरंगिणी, शिवसिर-मालति-माल।
हरि न बनायो सुरसरी, कीजो इंदव-भाल[२] ॥१॥
अनुचित उचित 'रहीम' लघु, करहिं बड़ेन के जोर।
ज्यों ससि के संयोग ते, पचवत आगि चकोर ॥२॥
उरग[३], तुरँग, नारी, नृपति, नीच जाति, हथियार।
'रहिमन' इन्हें सँभारिए, पलटत लगै न बार ॥३॥
ये 'रहीम' दर दर फिरहिं, माँगि मधुकरी खाहिं।
यारो यारी छोड़िए, वे रहीम अब नाहिं ॥४॥
कदली, सीप, भुजंग-मुख, स्वाति एक गुन तीन।
जैसी संगति बैठिए, तैसोई फल दीन ॥५॥
कहि 'रहीम' इक दीपतें, प्रगट सबै दुति होय।

[१] विष्णु भगवान। [२] महादेव। [३] साँप।

तन-सनेह कैसे दुरै, दृग-दीपक जरु दोय ॥६॥
कहु 'रहीम' केतिक रही, केतिक गई बिहाय।
माया-ममता-मोह परि, अंत चले पछिताय ॥७॥
काज परे कछु और है, काज सरे कछु और।
'रहिमन' भँवरी के भए, नदी सिरावत मौर ॥८॥
खैर-खून, खाँसी, खुसी, बैर, प्रीति, मदपान।
'रहिमन' दाबे न दबैं, जानत सकल जहान ॥९॥
गरज आपनी आप सोँ, रहिमन कही न जाय।
जैसे कुल की कुलबधू, पर-घर जात लजाय ॥१०॥
चारा प्यारा जगत में, छाला[1] हितकर लेय।
ज्यों 'रहीम' आटा लगे, त्यों मृदंग स्वर देय ॥११॥
जहाँ गाँठ तहँ रस नहीं, यह 'रहीम' जग जोय।
मड़ए तर की गाँठ में, गाँठ गाँठ रस होय ॥१२॥
जाल पेर जल जात बहि, तजि मीनन को मोह।
'रहिमन' मछरी नीर को, तऊ न छाड़त छोह ॥१३॥
जे गरीब पर हित करें, ते 'रहीम' बड़ लोग।
कहाँ सुदामा बापुरो, कृष्ण - मिताई - जोग ॥१४॥
जो पुरुषारथ ते कहूँ, संपति मिलत 'रहीम'।
पेट लागि बैराट[2] घर, तपत रसोई भीम ॥१५॥
जो 'रहीम' उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग ॥१६॥
जो 'रहीम' करिबो हुतो, ब्रज को इहै हवाल।
तौ काहे कर पर धर्यो, गोबर्धन गोपाल ॥१७॥
जो 'रहीम' गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे[3] उजिआरो लगे, बढ़े[4] अँधेरो होय ॥१८॥

[1] दाग। [2] राजा विराट्। [3] जलाने पर, छोटी अवस्था में। [4] बुझने पर, बड़ा होने पर।

जो 'रहीम' गति दीप की, सुत सपूत की सोय ।
बड़ो उजेरो तेहि रहे, गए अँधेरो होय ॥१९॥
जो 'रहीम' दीपक दसा, तिय राखत पट-ओट ।
समय परे ते होत है, वाही पट की चोट ॥२०॥
जो विषया संतन तजी, मूढ़ ताहि लपटात ।
ज्यों नर डारत वमन कर, स्वान स्वाद से खात ॥२१॥
टूटे सुजन मनाइये, जौ टूटे सौ बार ।
'रहिमन' फिरि फिरि पोहिए, टूटे मुक्ताहार ॥२२॥
धन थोरो इज्जत बड़ी, कहि 'रहीम' का बात ।
जैसे कुल की कुलबधू, चिथड़न माँह समात ॥२३॥
नात नेह दूरी भली, लो'रहीम' जिय जानि ।
निकट निरादर होत है, ज्यों गड़ही को पानि ॥२४॥
पावस देखि 'रहीम' मन, कोइल साधे मौन ।
अब दादुर[1] बक्ता भए, हमकौं पूछत कौन ॥२५॥
प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय ।
भरी सराय 'रहीम' लखि, पथिक आपु फिरि जाय ॥२६॥
भलो भयो धरते छुट्यो, हस्यो सीसपरि खेत ।
काके काके नवत हम, अपन पेट के हेत ॥२७॥
माँगे घटत 'रहीम' पद, कितो करो बढ़ि काम ।
तीन पगै बसुधा करी, तऊ बावनै नाम ॥२८॥
मुकता कर, करपूर कर, चातक जीवन जोय ।
येतो बड़ो 'रहीम' जल, ब्याल[2]-बदन बिष होय ॥२९॥
यह न 'रहीम' सराहिए, लेन देन की प्रीत ।
प्रानन बाजी राखिए, हारि होय कै जीत ॥३०॥
यह 'रहीम' निज संग लै, जनमत जगत न कोय ।

[1] मेढक । [2] सर्प ।

बैर, प्रीत, अभ्यास, जस, होत होत ही होय ॥३१॥
रन, बन, ब्याधि, बिपत्ति में, 'रहिमन' मरै न रोय ।
जो रच्छक जननी जठर[1], सो हरि गए कि सोय ॥३२॥
'रहिमन' अपने पेट सों, बहुत कह्यो समुझाय ।
जो तू अन खाए रहे, तोसों को अनखाय[2] ॥३३॥
'रहिमन' कठिन चितान ते, चिंता को चित लेत ।
चिता दहति निर्जीव को, चिंता जीव समेत ॥३४॥

---

[1]गर्भ । [2]चिढ़े ।

७—सेनापति

कविवर सेनापति अनूपशहर के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गंगाधर दीक्षित था। इनका जन्म सं० १६४६ के लगभग हुआ था। ये बड़े सरस और भावुक कवि थे। इनकी कविता मर्मस्पर्शिनी होती थी। इनके पद-विन्यास ललित हैं। इन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवित्त रत्नाकर' सं० १७०६ में समाप्त किया। इन्होंने 'ऋतुवर्णन' बहुत अच्छा लिखा है। ये प्रथम श्रेणी के कवि माने जाते हैं। यह बड़े भक्त और शुद्ध आचरण के थे।

ऋतुवर्णन

वसंत

बरन बरन तरु फूले उपबन बन,
सोई चतुरंग संग दल लहियत है।
बंदी जिमि बोलत बिरद बीर कोकिल हैं,
गुंजत मधुप गान गुन गहियत है॥
आवै आस-पास पुहुपन की सुबास,
सोई सोंधे के सुगंध माँझ सने रहियत है।
सोभा कौं समाज, 'सेनापति' सुख-साज आज,
आवत बसंत रितुराज कहियत है॥१॥

लसत कुटज[1], घन चंपक, पलास, बन,
फूलीं सब साखा जे हरति जन चित्त हैं।
सेत, पीत, लाल फूल-जाल हैं बिसाल,
तहाँ आछे अलि अच्छर जे कारज के मित्त हैं॥
'सेनापति' माधव[2] महीना भरि नेम करि,
बैठे द्विज[3] कोकिल करत घोष नित्त हैं।

[1]कुटकी। [2]वैशाख। [3]पक्षी।

कागद रंगीन में प्रबीन हैं बसंत लिखे,
मानौं काम चक्कवै के बिक्रम कवित्त हैं ॥२॥
लाल लाल टेसू फूलि रहे हैं बिशाल-संग,
स्याम रंग भेंटि मानौं मसि में मिलाए हैं।
तहाँ मधु काज आइ बैठे मधुकर-पुंज,
मलय पवन उपबन बन धाए हैं ॥
'सेनापति' माधव महीना में पलास तरु
देखि देखि भाउ कविता के मन आए हैं।
आधे अन-सुलगि, सुलगि रहे आधे मानौं,
बिरही दहन काम क्वैला परचाए हैं ॥३॥

ग्रीष्म

जेठ नजिकाने सुधरत खसखाने-तल,
ताख तहखाने के सुधारि झारियत हैं।
होति है मरम्मति बिबिध जल-जंत्रन की,
ऊँचे ऊँचे अटा ते सुधा सुधारियत हैं ॥
'सेनापति' अतर-गुलाब-अरगजा साजि
सार तार हार मोल लै लै धारियत हैं।
ग्रीषम के बासर बराइबे कौं सीरे सब,
राज भोग काज साजि यौं सम्हारियत हैं ॥४॥
बृष[1] कौं तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत हैं।
तचति[2] धरनि जग जरत झरनि[3] सीरी,
छाँह को पकरि पंथी-पंछी बिरमत हैं ॥
'सेनापति' नैंकु दुपहरी के ढरत, होत,
धमका[4] बिषम, ज्यौं न पात खरकत है।

[1]बृष राशि। [2]तपती है। [3]आँच। [4]सन्नाटा, हवा के बंद हो जाने पर जो

मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौं पकरि कौनों,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है ॥५॥
'सेनापति' ऊँचे दिनकर के चलति लुवैं,
नद नदी कुवैं कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन, मुरझात उपबन बन,
लाग्यौ है तवन, डार्यौ भूतलौ तचाइ कै॥
भीषम तपत रितु ग्रीषम सकुचि तातैं,
सीरक छिपी है तहखानन मैं जाइ कै।
मानौं सीत काल, सीत-लता के जमाइबे कौ,
राखे हैं बिरंचि बीज धरा मैं धराइ कै ॥६॥

वर्षा

दामिनी दमक सोई मंद बिहँसनि, बग-
माल है बिसाल सोई मोतिन कौं हारौ है।
बरन बरन घन रंगित बसन तन,
गरज गरूर सोई बाजत नगारौ है॥
'सेनापति' सावन कौं बरसा नवल बधू,
मानौं है बरति साजि सकल सिंगारौ है।
त्रिबिध बरन पर्यो इन्द्र कौं धनुष, लाल,
पन्ना सौं जटित मानौं हेम खगवारौ है ॥७॥
'सेनापति' उनए नए जलद सावन के,
चीर हू दिसान घुमरत भरे तोइ कै।
सोभा सरसाने, न बखाने जात काहू भाँति,
आने हैं पहार मानौं काजर के ढोइ कै॥
घन सौं गगन छप्यौ, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौं रबि गये खोइ कै।

सन्नाटा छा जाता है।

चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जानि याही तैं रहत हरि सोइ कै ।।८।।

शरद्

पाउस निकास तातैं पायौ अवकास, भयो-
जोन्ह[1] कौं प्रकास सोभा ससि रमनीय कौं ।
बिमल अकास होत बारिज बिकास,
'सेनापति' फूले कास हित हंसन के हीय कौं ।।
छिति न गरद, मानौ रंगे हैं हरद सालि,
सोहत जरद को मिलावै हरि पीय कौं ।
मत्त हैं दुरद मिट्यो खंजन परद, हितु
आई है सरद सुखदाई सब जीय कौं ।।९।।
कातिक की राति थोरी थोरी सियराति,
'सेनापति' है सुहाति सुखी जीवन के गन हैं ।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं ।।
उदित बिमल चंद, चाँदिनी छिटकि रही,
राम कैसौ जस अध उरध गगन हैं ।
तिमिर हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर मगन हैं ।।१०।।
बरन्यौ कबिन कलाधर कौं कलंक, तैसौ
को सकै बरनि, कबि हू की मति छीनी है ।
'सेनापति' बरनी अपूरव जुगति ताहि,
कोबिद बिचारौ कौन भाँति बुद्धि दीनी है ।
मेरे जान जेतिक सौं सोभा होत जानी राखि,
तेतिकै कलान रजनी की छबि कीनी है ।

[1] चाँदनी, ज्योत्स्ना ।

बढ़ती के राखे, रैनि हू तैं दिन ह्वैहै, यातैं
आगरी मयंक तैं कला निकासि लीनी है ॥११॥

सरसी निरमल नीर पुनि, चंद चाँदिनी पीन[1]।
घन बरसै आकास अरु अवनी रज है लीन ॥
अब नीरज है लीन, बिमल तारागन सोभा।
राजहंस पुनि लीन, सकल हिमकर की जो भा[2] ॥
इत सरवर उत गगन दुहूँ समता है परसी।
'सेनापति' रितु सरद, अंग अंगन छबि सरसी ॥१२॥

हेमंत और शिशिर

सीत कौं प्रबल 'सेनापति' कोपि चढ़्यो दल,
निबल अनल गयौ सूर सियराइ कै।
हिम के समीर, तेई बरसैं बिषम तीर,
रही है गरम भौन कोनन मैं जाइ कै ॥
धूम नैन बहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिए सौं लगाइ रहैं नैंकु सुलगाइ कै।
मानौं भीत जानि, महासीत तैं पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै ॥१३॥

सिसिर मैं ससि कौं सरूप पावै सबिताऊ[3],
घाम हू मैं चाँदिनी की दुति दमकति है।
'सेनापति' होत सीतलता है सहस गुनी,
रजनी की झाँई बासर मैं झमकाति है ॥
चाहत चकोर, सूर ओर दृगछोर करि,
चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।
चंद के भरम होत मोद है कमोदिनी कौं,
ससि संक पंकजनि फूलि न सकति है ॥१४॥

[1] पुष्ट, सम्पन्न, पूर्ण। [2] प्रकाश। [3] सूर्य भी।

सिसिर तुषार[१] के बुखार से उखारत है,
पूस बीते होत सून हाथ पाइ ठिरि कै।
द्यौस की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाइ,
'सेनापति' पाई कछू सोचि कै सुमिरि कै॥
सीततै सहस-कर[२], सहत चरन ह्वै, कै
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौं लौं कोक कोकी कौं मिलत तौ लौं होति राति,
कोक अधबीच हीतैं आवत है फिरिकै॥१५॥

धायौ हिमदल, हित भूधर तैं 'सेनापति',
अंग अंग जग, थिर जंगम[३] ठिरत है।
पैयै न बताई भाजि गई है तताई,
सीत आयौ आततायी[४] छिति अम्बर घिरत है।
करत है ज्यारी भेष धरि कै उज्यारी ही कौ,
घाम बार बार बैरी बैर सुमिरत है।
उत्तर तैं भाजि सूर ससि कौं सरूप करि,
दच्छिन की छोर छिन आधक फिरत है॥१६॥

आयौ जोर जड़कालौ, परत प्रबल पालौ,
लोगन कौं लालौं पर्यो जियैं कित जाइ कै।
ताप्यौ चाहैं बारि कर, तिनन सकत टारि,
मानौं हैं पराए, ऐसे भये ठिठराइ कै।
चित्र कैसौ लिख्यौ, तेजहीन दिनकर भयौ,
अति सियराइ गयौ घाम पतराइ कै।
'सेनापति' मेरे जान सीत के सताए सूर,
राखे हैं सकोरि[५] कर अंबर छुपाइ कै॥१७॥

---

[१]पाला। [२]सूर्य। [३]चलने वाले। [४]दुष्ट। [५]सिकोड कर।

८—बिहारीलाल

कविवर बिहारीलाल का जन्म सं० १६६० के लगभग ग्वालियर के समीप बसुवा गोविंदपुर में हुआ था। ये माथुरिया चौबे थे। ये जयपुर के महाराजा मिर्जा जयसिंह के राजकवि थे। इनके रचे हुए दोहों का संग्रह 'बिहारी-सतसई' के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि इन्हें अपने चरित प्रत्येक दोहे के पुरस्कार में महाराजा की ओर से एक एक अशर्फ़ी मिलती थी। बिहारी सतसई की लोकप्रियता इसी से समझनी चाहिए कि अब तक इस पर बीसियों टीकाएँ बन चुकी हैं, और बनती ही जाती हैं।

बिहारी के दोहे शुद्ध ब्रजभाषा में लिखे गए हैं। इनके दोहों की यह बड़ी विशेषता है कि थोड़े ही में अर्थ और भाव-गाम्भीर्य से ओतप्रोत होते हैं। बिहारी के कुछ दोहे नीति और भक्तिपक्ष के भी हैं, परन्तु इनकी ख्याति श्रृंगारात्मक दोहों के कारण हुई है। श्रृंगार की विविध दशाओं का जो शब्दचित्र बिहारी ने खींचा है वह बहुत स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी है। बिहारी श्रृंगार रस के प्रतिनिधि कवि थे। कहीं कहीं नायिकाओं के वियोग की तीव्रता दिखलाने में उनकी रचना ऊहात्मक हो गई है।

बिहारी-बिहार

दोहा

मेरी भव - बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँइ परैं, स्यामु हरित-दुति होइ ॥१॥

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनो तारन-बिरद, बारक बारनु[1] तारि ॥२॥

जम-करि-मुँह-तरहरि परयो, इहिँ धरहरि चित लाउ।

[1] हाथी, गजेन्द्र मोक्ष की ओर संकेत है।

बिषय-तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ ॥३॥
दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईंहिं न भूलि।
दई - दई क्यौं करतु है, दई दई सु कबूलि ॥४॥
कब कौ टेरतु दीन-रट, होत न स्याम सहाइ।
तुमहूँ लागी जगत - गुरु, जग-नाइक, जगबाइ[१] ॥५॥
मकराकृति गोपाल कैं, सोहत कुंडल कान।
धर्‍यौ मनौ हिय-धर समरु[२], ड्योढ़ी लसत निसान ॥६॥
या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं त्यौ उज्वलु होइ ॥७॥
तजि तीरथ, हरि-राधिका - तन-दुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग, पग पग होतु परागु ॥८॥
कीजै चित सोई तरे, जिहिं पतितनु के साथ।
मेरे गुन - औगुन - गननु, गनौ न गोपीनाथ ॥९॥
हरि कीजति बिनती यहै, तुम सौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यौ रह्यौ, पर्‌यौ रहौं दरबार ॥१०॥
मैं तपाइ त्रयताप सौं, राख्यो हियौ हमामु[३]।
मति[४] कबहुँक आए इहाँ, पुलकि पसीजै स्यामु ॥११॥
सीस-मुकुट, कटि-काछनी, कर-मुरली उर-माल।
इहिं बानक मो मन सदा, बसौ बिहारीलाल ॥१२॥
यह बिरिया नहिं और की, तूं करिया[५] वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिं, कीन्हें पार पयोधि ॥१३॥
मोर-मुकुट की चंद्रिकनु, यौं राजत नँदनंद।
मनु ससिसेखर की अकस[६], किय सेखर सत चंद ॥१४॥
लोपे कोपे इन्द्र लौं, रोपे प्रलय अकाल।

[१] संसार की हवा। [२] (स्मर) कामदेव। [३] स्नानागार। [४] चाहे तो। [५] कर्णधार। [६] खार, चिढ़।

गिरिधारी राखे सबै, गो – गोपी – गोपाल ॥१५॥
अपनैं अपनैं मत लगे, बादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबो, एकै नंद किसोरु ॥१६॥
तौ बलियै, भलियै बनी, नागर नंद किसोर।
जौ तुम नीकैं कै लख्यौ, मो करनी की ओर ॥१७॥
बंधु भए का दीन के, को तार्‌यो रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ, झूठ बिरद कहाइ ॥१८॥
दियौ, सु सीस चढ़ाइ लै, आछी भाँति अएरि।
जापैं सुखु चाहत लियौ, ताके दुखहिं न फेरि ॥१९॥
कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा, बिपति - बिदारनहार ॥२०॥
घरु घरु डोलत दीन ह्वै, जनु जनु जाँचत जाइ।
दियैं लोभ-चसमा चखनु, लघु पुनि बड़ौ लखाइ ॥२१॥
मोहन-मूरति स्याम की, अति अद्‌भुत गति जोइ।
बसतु सु चित-अंतर तऊ, प्रतिबिंबितु जग होइ ॥२२॥
गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन, बूड़े जहाँ हजारु।
वहै सदा पसु नरनु कौं, प्रेम - पयोधि पगारु[1] ॥२३॥
जिन दिन वै कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब अलि, रही गुलाब में, अपत कँटीली डार ॥२४॥
स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु बृथा, देखि बिहंग बिचारि।
बाज पराएँ पानि परि, तूं पच्छीनु न मारि ॥२५॥
नए बिससियहि लखि नए, दुरजन दुसह - सुभाइ।
आँटैं[2] परि प्राननु हरत, काँटैं लौं लगि पाइ ॥२६॥
नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ ॥२७॥

[1]पैर से पार करनेवाली नदी। [2]अँकड़ी, छोटी कंकड़ी।

भजन कह्यो तातैं भज्यो, भज्यो न एकौ बार।
दूर भजन जातैं कह्यो, सो तैं भज्यो गँवार ॥२८॥
बसे बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ भलौ कहि छोड़िये, खोटैं ग्रह-जपु-दानु ॥२९॥
कहै यहै श्रुति सुमृतौ, यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक ही, पातक, राजा, रोग ॥३०॥
जो सिर धरि महिमा यही, लहियत राजाराइ।
प्रकटत जड़ता अपनि पै, सुमुकुट पहरत पाइ ॥३१॥
दिन दस आदरु पाइकै, करिलै आपु बखानु।
जौ लगि काग! सराधपख[1], तौ लगि तौ सनमानु ॥३२॥
मरतु प्यास पिंजरा पर्‌यो, सुआ समै कैं फेर।
आदरु दै दै बोलियतु, बाइसु[2] बलि की बेर ॥३३॥

---

[1]श्राद्ध-पक्ष, पितृपक्ष। [2]कौवा।

९—भूषण

तिकवाँपुर (जि०-कानपुर) के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण रत्नाकर त्रिपाठी के चार पुत्र चिंतामणि, भूषण, मतिराम और नीलकंठ (जटाशंकर) थे। इनमें प्रथम तीन यशस्वी कवि हो गए हैं। भूषण का जन्म सं० १६७० में हुआ था। इनके असली नाम का पता अब तक निश्चय रूप से नहीं लगा है। चित्रकूट के राजा हृदयराम सोलंकी के पुत्र रुद्रराम सोलंकी ने इन्हें कवि-भूषण की पदवी दी थी, वही पदवी नामरूप से प्रसिद्ध हो गई। यों तो भूषण कई राजाओं के आश्रय में रहे, परन्तु इनका सब से अधिक सम्मान छत्रपति शिवाजी ने किया। बुन्देलखंड के वीर छत्रसाल ने भी भूषण का बहुत सम्मान किया था।

भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल के विषय में जो प्रशस्तियाँ लिखी हैं उनसे इनमें चाटुकारिता नहीं प्रत्युत समस्त हिन्दू जाति के प्रतिनिधित्व की झलक पाई जाती है। शिवाजी और छत्रसाल के विषय में काव्योचित अत्युक्ति-पूर्ण प्रशंसा करने पर भी भूषण ने इतिहास-विरुद्ध किसी घटना का उल्लेख नहीं किया है। भूषण वास्तव में राष्ट्रीय कवि थे।

भूषण ने 'शिवाराज भूषण' में विविध अलंकरों द्वारा शिवाजी की वीरता सम्बन्धी विविध घटनाओं का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त इनके रचे छत्र-सालदशक, भूषण उल्लास, दूषण उल्लास, भूषण हजारा आदि भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। भूषण की रचना ब्रजभाषा में हुई है। इन्होंने शब्दों को कहीं-कहीं विकृत भी कर दिया है। हिन्दी साहित्य में भूषण की रचना वीररस-प्रधान और श्रेष्ठ मानी गई है। भूषण का परलोकवास सं० १७७२ में माना जाता है।

(१) शिवाजी का शौर्य

(कवित्त—मनहरण)

इन्द्र जिमि जंभ[1] पर बाड़व[2] सुअंभ[3] पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज है।
पौन वारिवाह[4] पर संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहसबाहु पर रामद्विजराज है॥
दावा[5]द्रुम-दंड पर चीता मृग-झुंड पर,
'भूषण' वितुंड[6] पर जैसे मृगराज है।
तेज तमअंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥१॥

गरुड़ को दावा जैसे नाग के समूह पर,
दावा नाग[7] जूह पर सिंह सिरताज को।
दावा पुरुहूत[8] को पहारन के कुल पर,
दावा सबै पच्छिन के गोल पर बाज को॥
'भूषन' अखंड नवखंड-महि-मंडल में,
तम पर दावा रविकिरन समाज को।
पूरब पछाँह देस दच्छिन तें उत्तर लौं,
जाहाँ पातसाही तहाँ दावा सिवराज को॥२॥

प्रेतिनी-पिसाचऽरु निसाचर-निसाचरिहू,
मिलि मिलि आपुस मैं गावत बधाई हैं।
भैरों भूत-प्रेत भूरि भूधर-भयंकर से,
जुत्थ-जुत्थ जोगिनी जमाति[9] जुरि आई है॥
किलकि किलकि कै कुतूहल करति काली,
डिम-डिम डमरू दिगंबर बजाई है।

[1]जृम्भासुर नामक दैत्य। [2]वड़वाग्नि। [3]समुद्र। [4]बादल। [5]दावाग्नि। [6]हाथी। [7]हाथी। [8]इन्द्र। [9]समूह (फा० जमाअत)।

सिवा पूछैं सिव सों समाज आजु कहाँ चली,
काहू पै सिवानरेस भृकुटी चढ़ाई है ॥३॥
दर-बर[1] दौरि करि नगर उजारि डारे,
कटक कटायो कोटि दुजन दरब की।
जाहिर जहान जंग जालिम है जोरावर,
चलै न कछूक जोर जब्बर-जरब की॥
सिवराज तेरे त्रास दिल्ली भयो भुवकंप,
थर-थर काँपत बिलाइत अरब की।
हालत दहलि जात काबुल कँधार वीर,
रोस करि काढ़ै समसेर ज्यों गरब की ॥४॥
जिन फन फुतकार उड़त पहार भारे,
कूरम कठिन जनु कमल बिदलिगो।
बिषजाल ज्वालामुखी लवलीन होत जिन,
झारन चिकारि मद दिग्गज उगलिगो॥
कीन्हों जेहि पान पयपान सो जहान कुल,
कोलहू उछलि जलसिंधु खलभलिगो।
खग्ग खगराज महाराज सिवराज जू को,
अखिल भुजंग मुगलदल निगलिगो ॥५॥

छप्पय—विज्जपूर[2] विदनूर-सूर, सर-धनुष न संधहिं[3]।
मंगल बिनु मल्लारि[4]-नारि, धम्मिल[5] नहिं बंधहिं॥
गिरत गब्भ[6] कोटीन, गहत चिंजी-चिंजा[7] डर।
चालकुंड दलकुंड, गोलकुंडा संका उर॥
'भूषण' प्रताप सिवराज तव, इमि दच्छिन दिसि संचरै।
मधुराधरेस धकधक धकत, द्रविड़ निबिड़ अबिरल डरै ॥६॥

[1]सेना के बल से। [2]बीजापुर। [3]संधान करते, चढ़ाते। [4]मालावार। [5]जूड़ा। [6]गर्भ। [7]दक्षिण के राज्य-विशेष।

कवित्त

वेद राखे विदित पुरान परसिद्ध राखे,
रामनाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में॥
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर में।
राजन की हद्द राखी तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में॥७॥

राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे वेद-बिधि सुनी मैं।
राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी में॥
'भूषन' सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की,
देस देस कीरति बखानी तब सुनी मैं।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबिकै दिवाल राखी दुनी में॥८॥

चकित चकत्ता[1] चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह खरकति है।
बलख बिलात बिलखात बीजापुरपति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है॥
थर थर काँपत कुतुबसाही गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
सिंह सिवराज तेरे धौंसा की धुकार सुनि,
केते पातसाहन की छाती धरकति है॥९॥

[1] चग़ताई-वंशज औरंगज़ेब।

दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा सिवाजी गाजी,
उग्ग[1] पर उग्ग[2] नाचे रुंड मुंड फरके।
'भूषन' भनत बाजे जीति के नगारे भारे,
सारे करनाटी भूप सिंहल को सरके[3] ॥
मारे सुनि सुभट पनारेवारे[4] उद्भट[5],
तारे लगे फिरन सितारेगढ़धर के।
बीजापुर बीरन के गोलकुंडा धीरन के,
दिल्ली उर मीरन के दाड़िम[6] से दरके ॥१०॥

(२) छत्रसाल-दशक

कवित्त

चले चन्दबान[7] घनबान[8] औ कुहूक बान[9],
चलत कमान[10] धूम आसमान छ्वै रहो।
चली जमडाढ़ैं[11] बाढ़वारैं[12] तरवारैं जहाँ,
लोह आँच जेठ के तरनि मान वै रहो ॥
ऐसे समै फौजें बिचलाई छत्रसाल सिंह,
अरि के चलाए पाँय बीररस च्वै रहो।
हय चले हाथी चले संग छोड़ि साथी चले,
ऐसी चलाचली मैं अचल हाड़ा[13] ह्वै रहो ॥१॥
दारा साहि नौरंग जुरे हैं दोऊ दिल्लीदल,
एकै गये भाजि एकै गये रुँधि चाल में।
बाजी कर कोऊ दगाबाजी करि राखा जेहिं,
कैसेहू प्रकार प्रान बचत न काल में ॥

[1]आकाश। [2]शिवजी (उग्र)। [3]भाग गये। [4]परनालेवाले। [5]भयंकर, बली। [6]अनार। [7]अर्द्ध चन्द्राकार बाण। [8]बादल के समान छा जानेवाले बाण। [9]अँधेरे में चलनेवाले बाण। [10]तोप। [11]एक प्रकार की टेढ़ी तलवार। [12]तेज़ धारवाली। [13]बूँदी के हाड़ा-वंशीय राजा।

हाथी से उतरि हाड़ा जूझो लोह-लंगर[१] दै,
एती लाज का में जेती लाज छत्रसाल में।
तन तरवारिन मैं, मन परमेसुर में,
प्रान स्वामि कारज में, माथो हरमाल में ॥२॥

निकसत म्यान तैं मयूखैं[२] प्रलैभानु कैसी,
फारैं तमतोम[३] से गयन्दन के जाल को।
लागति लपटि कंठ बैरिन के नागिन सी,
रुद्रही रिझावै दै दै मुंडन के माल को॥
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करबाल को।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि काटि,
कालिका सी किलकि कलेऊ देति काल को ॥३॥

भुज भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी सी,
खेदि खेदि खातीं दीह दारुन दलन के।
बखतर पाखरिन[४] बीच धँसि जाति मीन,
पौरि पार जात परबाह[५] ज्यों जलन के॥
रैयाराय चम्पति कौं छत्रसाल महाराज,
'भूषन' सकत को बखान यों बलन के।
पच्छी पर-छीने ऐसे परे परछीने वीर,
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के ॥४॥

रैयाराय चम्पति को चढ़ो छत्रसाल सिंह,
'भूषन' भनत समसेर जोम जमकैं।

[१]हाथी के पैर में पहनाई जाने वाली लोहे की जंजीर। [२]किरणें। [३]अंधकार का समूह। [४]लोहे की झूल। [५]प्रवाह, धारा। पच्छी......खलन के=तेरी बरछी ने शत्रुओं के बल का इतना नाश किया है कि वे परकटे पक्षियों की भाँति निकम्मे होकर बैठ रहे।

भादौं की घटा सी उठीं गरदैं गगन घेरैं,
सेलै समसेरैं फेरैं दामिनी सी दमकैं ॥
खान उमरावन के आन राजा रावन के,
सुनि सुनि उर लागैं घन कैसी घमकैं।
बैहर[1] बगारन[2] की अरि के अगारन की,
नाँघती पगारन नगारन की धमकैं ॥५॥

अत्र गहि छत्रसाल खीझ्यो खेत बेतवै के,
उतते पठानन हूँ कीन्हीं झुकि झपटैं।
हिम्मत बड़ी कै कबड़ी के खिलवारन लौं,
देत सै हजारन हजार बार चपटैं।
'भूषन' भनत काली हुलसी असीसन को,
सीसन को ईस की जमाति जोर जपटैं।
समद[3] लौं समद[4] की सेना त्यौं बुँदेलन की,
सेलैं समसेरैं भईं बाड़व की लपटैं ॥६॥

हैबर[5] हरट्ट साजि गैबर[6] गरट्ट[7] सम,
पैदर की ठट्ट फौज जुरि तुरकाने की।
'भूषन' भनत राय चम्पति को छत्रसाल,
रोप्यो रन ख्याल ह्वै कै ढाल हिन्दुवाने की ॥
कैयक हजार एक बार बैरी मारि डारे,
रंजक[8] दगनि मानो अगिनि रिसाने की।
सैद अफगन सेन सगर सुतन लागी,
कपिल सराप लौं तराप तोपखाने की ॥७॥

[1]स्त्रियाँ। [2]सीमा। [3]समुद्र। [4]अब्दुल समद, यह दिल्ली का एक सरदार था जो कि सन् १६९० ई० में बेतवा नदी के किनारे महाराज छत्रसाल से हारा था। [5]श्रेष्ठ घोड़े। [6]श्रेष्ठ हाथी। [7]समूह। [8]बारूद। सैद अफगन···तोपखाने की = सैयद अफगन की सेनारूपी सगर के पुत्रों को तोप के गोले कपिल मुनि के शाप की तरह लगे।

चाक-चक[१] चमू कै अचाकचक[२] चहूँ ओर,
चाकसी फिरत धाक चम्पति के लाल की।
'भूषन' भनत पातसाही मारि जेर कीन्हीं,
काहू उमराव ना करेरी करवाल की॥
सुनि सुनि रीति बिरदैत के बड़प्पन की,
थप्पन[३] उथप्पन[४] की बानि छत्रसाल की।
जंग जीति लेवाते वै ह्वै के दामदेवा भूप,
सेवा लागे करन महेबा महिपाल की॥८॥

कीबे को समान[५] प्रभु ढूंढ़ि देख्यो आन पै,
निदान दान युद्ध में न कोऊ ठहरात हैं।
पंचम[६] प्रपंच भुजदंड को बखान सुनि,
भागिबे को पच्छी लौं पठान थहरात हैं॥
संका मानि सूखत अमीर दिल्लीवारे जब,
चम्पति के नन्द के नगारे घहरात हैं।
चहूँ ओर चकित चकत्ता[७] के दलन पर,
छता[८] के प्रताप के पताके फहरात हैं॥९॥

राजत अखंड तेज छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयन्द दिग्गजन हिय साल को।
जाहि के प्रताप सों मलीन आफताब[९] होत,
ताप तजि दुजन करत बहु ख्याल को?
साज सजि गजतुरी[१०] पैदरि कतार दीन्हें,
'भूषन' भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को?
और राव राजा एक मन में न ल्याऊँ अब,
साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को॥१०॥

[१]पूर्ण सुरक्षित। [२]अचानक। [३]बसाना। [४]उजाड़ना। [५]सादृश्य के लिये। [६]बुन्देलों के पूर्वज। [७]चगताई-वंशज औरंगजेब। [८]छत्रसाल। [९]सूर्य। [१०]घोड़ा।

१०—देव

महाकवि देव का जन्म संवत् १७३० में इटावे में हुआ था। १६ वर्ष की अवस्था से ही इन्होंने कविता लिखना आरम्भ किया था। यह शृंगार रस के उत्कृष्ट कवियों में थे। इनके रचित कुल ५२ ग्रन्थ कहे जाते हैं, जिनमें २७ ग्रन्थों का पता लग पाया है। इनकी रचना शुद्ध ब्रजभाषा में हुई है। इनकी कविता में सभी काव्य-गुण और उक्तियाँ बड़ी अनूठी पाई जाती हैं। इनकी कविता उच्च कोटि की होने पर भी अपनी जटिलता और गूढ़ोक्तियों के कारण दुर्बोध सी हो गई है और इसीसे लोकप्रिय न हो सकी।

देव-दशक

कवित्त

सूनो कै परम पदु, ऊनो[1] कै अनंत मदु,
दूनो कै नदीस नदु इन्दिरा[2] फुरै परी।
महिमा मुनीसन की, संपति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि ब्रज-बीथी बिथुरै[3] परी॥
भादौं की अँधेरी अधराति, मथुरा के पथ,
आई मनोरथ, देव देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन, अपार परब्रह्म रासि,
जसुदा के कोरै[4] एक बारक कुरै परी॥१॥

सवैया

पायन नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनि में धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै वनमाल सुहाई॥

[1]कम, न्यून, नाश। [2]लक्ष्मी। [3]बिखरी हुई। [4]गोद में।

माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुखचन्द - जुन्हाई।
जै जग-मन्दिर-दीपक सुन्दर, श्री ब्रज दूलह देव-सहाई ॥२॥

कवित्त

हौं ही ब्रज, बृन्दाबन मोंही में बसत सदा,
जमुना-तरंग स्याम रंग अवलीन की।
चहूँ ओर सुन्दर, सघन बन देखियतु,
कुंजनि में सुनियतु सु गुंजनि अलीन[1] की ॥
बंसीबट-तट नट नागर नटत मो में,
रास के बिलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक, बनक ताल तानन की,
तनक तनक; तामें झनक चुरीन[2] की ॥३॥
कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो नरलोक, परलोक बर लोकनि में,
लीन्हीं मैं अलीक, लोक-लीकनि ते न्यारी हौं ॥
तन जाउ, मन जाउ, देव गुरुजन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेक टरति न टारी हौं।
बृन्दाबन वारी बनवारी की मुकुट वारी,
पीत पटवारी वाहि मूरति पै वारी हौं ॥४॥
जिन जान्यौ बेद, तेतौ बादि कै बिदित होहु,
जिन जान्यौ लीक, तेऊ लीक पै लरि मरौ।
जिन जान्यौ तप, तीनौ तपनि ते तपि-तपि,
पंचागिनि[3] साधि ते समाधिन धरि मरौ ॥
जिन जान्यो जोग, तेऊ जोगी जुग-जुग जियौ,
जिन जानी जोति, तेऊ जोति लै जरि मरौ।

[1] भौंरों की। [2] चूड़ियाँ। [3] पाँच जगह आग जलाकर उसके बीच में बैठकर तप करना।

हौं तौ, 'देव', नन्द के कुंवर, तेरी चेरी भई,
मेरो उपहास क्यों न कोटिन करि मरौ ॥५॥
तेरो घर घेरे आठो जाम रहैं आठो सिद्धि,
नवों निधि तेरे बिधि लिखिये ललाट हैं।
'देव', सुख-साज महाराजनि कौ राज तुहीं,
सुमति सु सो ये तेरो कीरति के भाट हैं ॥
तेरे ही अधीन अधिकार तीन लोक कौ सु,
दीन भयौ क्यों फिरै मलीन घाट-बाट हैं।
तो में जो उठत बोलि, ताहि क्यों न मिलै डोलि,
खोलिये हिये में दिये कपट-कपाट हैं ॥६॥

सवैया

हाय दई ! यहिं काल के ख्याल में, फूल-से फूलि सबै कुंभिलाने।
या जग बीच बचे नहिं मीच पै, जे उपजे ते मही में मिलाने ॥
'देव', अदेव बली बलहीन, चले गये मोह की हौस हिलाने।
रूप, कुरूप, गुनी निगुनी, जे जहाँ उपजे ते तहाँ ही बिलाने ॥७॥

वा चकई कौ भयो चित चीतो, चितौति चहूँ दिसि चाव सों नाची।
ह्वै गई छीन छपाकर की छवि, जामिन जोन्ह मनौं जम जाँची ॥
बोलत बैरी बिहंगम, 'देव', सु बैरिन के घर संपति साँची।
लोहू पियौ जु बियोगिनी कौ, सु कियौ मुख लाल पिसाचिनि प्राची[1] ॥८॥

प्रेम-पयोधि परो गहिरे, अभिमान कौ फेन रह्यो गहि, रे मन।
कोप-तरंगनि सों बहि रे, पछिताय पुकारत क्यों, बहिरे मन ॥
'देव' जू, लाज-जहाज ते कूदि, रह्यौ मुख मूदि, अजौं रहि रे मन।
जोरत, तोरत प्रीति तुहीं, अब तेरी अनीति तुही सहि रे मन ॥९॥

[1] पूर्व दिशा।

कवित्त

ऐसो जो हौं जानतो, कि जैहै तू विषै के संग,
एरे मन मेरे, हाथ-पाँव तेरे तोरतो।
आजुलौं हौं कत नरनाहन की नाहिं सुनी,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो॥
चलन न देतो 'देव', चंचल अचल करि,
चाबुक-चितावनीन मारि मुँह मोरतो।
भारी प्रेम-पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि;
राधावर-विरुद के बारिधि में बोरतो॥१०॥

११—रसखान

रसखान दिल्ली के शाही वंश के पठान थे। इनका असली नाम सैयद इब्राहीम था। इनका जन्म सं० १६१५ में हुआ था। युवावस्थामें कुछ वैष्णवों के उपदेश से इनका मन सांसारिक प्रेम से हट कर श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति आकृष्ट हुआ। एक बार ये वेष बदल कर श्रीनाथजी के मंदिर में दर्शन करने को जा रहे थे, पौरिये ने इन्हें पहचान लिया और रोक दिया। ये तीन दिन तक भूखे-प्यासे वहीं गोविंद कुंड पर बैठे रहे। इस पर गोस्वामी बिट्ठलनाथजी को दया आई और उन्होंने इन्हें अपना शिष्य बना लिया, और इनका मूल नाम बदल कर 'रसखानि' नाम रखा। अपनी भक्ति और निष्ठा के कारण ये गोसाँईजी के प्रधान शिष्यों में हो गये। इनकी रचनाएँ शुद्ध ब्रजभाषा में कृष्ण-भक्ति पर हुई हैं। 'सुजान रसखान' और 'प्रेम बाटिका' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनकी मृत्यु संवत् १६८५ में हुई है।

सुजान-रसखान

सवैया

मानुष हौं तौ वही 'रसखानि', बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन[1]।
जौ पशु हौं तौ कहा बस मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि को, जो धर्‍यो कर छत्र पुरंदर[2] धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौ मिलि, कालिंदी कूल कदंब की डारन॥१॥
या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधि को सुख, नंद की गाय चराय बिसारौं॥
'रसखानि' कबौं इन आँखिन सों, ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हौं कलधौत[3] के धाम, करील के कुंजन ऊपर वारौं॥२॥

[1]ग्वालों में। [2]इन्द्र। [3]सोना।

मोरपखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरें पहिरौंगी।
ओढ़ि पितंबर लै लकुटी बन, गोधन ग्वारनि संग फिरौंगी॥
भावतो वोहि मेरो 'रसखानि', सों तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की, अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥३॥
गावैं गुनी गनिका गंधर्व, औ सारद सेस सबै गुन गावत।
नाम अनंत गनंत गनेस, ज्यौं ब्रह्म त्रिलोचन पार न पावत॥
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध, निरंतर जाहि समाधि लगावत।
ताहि अहीर की छोहरिया, छछिया[1] भरि छाछ[2] पै नाच नचावत॥४॥
धूर भरे अति सोभित स्याम जू, तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत खात फिरैं अँगना, पग पैजनी बाजती पीरी कछोटी[3]॥
वा छबि को 'रसखानि' बिलोकत, वारत काम कला निज कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी, हरि हाथ सौं लै गयो माखन रोटी॥५॥
आयो हुतो नियरें 'रसखानि', कहा कहूँ तू न गई वह ठैयाँ।
या ब्रज में सिगरी बनिता, सब वारति प्राननि लेत बलैया॥
कोऊ न काहू की कानि करै, कछु चेटक[4] सो जु कर्‌यो जदुरैया।
गाइगो तान, जमाइगो नेह, रिझाइगो प्रान, चराइगो गैया॥६॥
कल कानन कुंडल मोरपखा, उर पैं बनमाल बिराजति है।
मुरली कर में अधरा मुसकानि, तरंग महाछबि छाजति है॥
'रसखानि' लखै तन पीतपटा, सत दामिनी की दुति लाजति है॥
वह बाँसुरी की धुनि कान परें, कुलकानि हियो तजि भाजति है॥७॥
उनही के सनेहन सानी रहैं, उनहीं के जु नेह दिवानी रहैं।
उनहीं की सुनै न औ बैन, त्यों सैन सों चैन अनेकन ठानी रहैं॥
उनहीं संग डोलन में 'रसखानि', सबै सुख सिंधु अघानी रहैं।
उनही बिन ज्यों जलहीन ह्वै, मीन सी आँखि मेरी अँसुवानी रहैं॥८॥
सेस गनेस महेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।

[1] मिट्टी का बासन। [2] मट्ठा। [3] काछनी। [4] जादू।

जाहि अनादि अनंत अखंड, अछेद अभेद सुभेद बतावैं ॥
नारद से सुक व्यास रहैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं ॥९॥
शंकर से सुर जाहि भजैं, चतुरानन ध्यान में धर्म बढ़ावैं।
नेक हिये में जो आवत ही, 'रसखान' महाजड़ मूढ़ कहावैं ॥
जापर सुंदर देव - बधू नहिं वारत प्रान अबार लगावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं ॥१०॥
सोहत है चँदवा सिर मौर के, जैसियै सुंदर पाग कसी है।
तैसियै गोरज भाल बिराजति, जैसी हिये बनमाल लसी है॥
'रसखानि' बिलोकत बौरी भई, दृग मूंदि कै ग्वालि पुकारि हँसी है।
खोलि री घूँघट, खोलौं कहा, वह मूरति नैनन माँझ बसी है ॥११।
दानी भये नये माँगत दान हौ, जानि है कंस तौ बंधन जैहौ।
छूटे छरा बछरादिक गोधन, जो धन है सो सबै धन दैहौ॥
रोकत हौ बन में 'रसखानि', चलावत हाथ घनो दुख पैहौ।
जैहै जो भूषण काहु तिया को, तो मोल छला के लला न बिकैहौ ॥१२॥

१२—पद्माकर भट्ट

पद्माकर भट्ट का जन्म ज़िला सागर में संवत् १८१० में हुआ। इनके पिता मोहनलाल भट्ट (तैलङ्ग ब्राह्मण) बड़े विद्वान् और कवि थे। इनके पूर्वज बाँदा निवासी थे। पद्माकरजी कुछ दिनों तक गोसाईं अनूपगिरि (हिम्मत बहादुर) के यहाँ रहे, जिनके नाम पर इन्होंने 'हिम्मत बहादुर विरदावली' नामक वीर-रसपूर्ण काव्य-ग्रन्थ लिखा। संवत् १८५६ में सितारा के महाराज रघुनाथराव (राघोबा) ने इन्हें एक लाख रुपया, एक हाथी और दस गाँव दिए। तत्पश्चात् ये जयपुर के महाराज प्रतापसिंह, फिर, उनके पुत्र जगतसिंह के यहाँ रहे, जिनके नाम पर इन्होंने 'जगद्विनोद' की रचना की। इन्होंने अलंकार में 'पद्माभरण' तथा भक्ति और वैराग्यपूर्ण 'प्रबोध-पचासा' नामक ग्रन्थों की भी रचना की। अपने जीवन के अन्त समय में पद्माकरजी कानपुर में गंगातट पर आ बसे थे। यहाँ पर आपने 'गंगालहरी' की रचना की। पद्माकरजी रीतिकाल के प्रसिद्ध यशस्वी कवि हो गए हैं। अस्सी वर्ष की आयु भोगकर संवत् १८९० में आपका शरीरान्त हुआ।

(१) गंगा–गौरव

कवित्त

कूरम[1] पै कोल[2] कोल हू पै सेष-कुंडली है,
कुंडली पर फबी[3] फैल सुफन हजार की।
कहै 'पदमाकर' त्यों फन पै फबी है भूमि,
भूमि पै फबी है थिति रजत-पहार[4] की॥
रजत-पहार पर संभु सुरनायक हैं,
संभु पर ज्योति जटाजूट है अपार की।

[1]कच्छप। [2]वाराह। [3]शोभा देती है। [4]कैलाश-पर्वत।

संभु-जटाजूटन पै चंद की छुटी है छटा,
चन्द की छटान पै छटा है गंग-धार की ॥१॥

करम को मूल तन तन, मूल जीव जग,
जीवन को मूल अति आनँद ही धरिबो।
कहै 'पदमाकर' त्यों आनँद को मूल राज,
राज मूल केवल प्रजा को भौन भरिबो॥
प्रजा-मूल अन्न सब अन्नन को मूल मेघ,
मेघन को मूल एक जज्ञ अनुसरिबो।
जज्ञन को मूल धन, धन मूल धर्म, अरु
धर्म मूल गंगाजल-बिंदु पान करिबो ॥२॥

गंगा के चरित्र लखि भाष्यौ जमराज यह,
ए रे चित्रगुप्त, मेरे हुकुम में कान दै।
कहै 'पदमाकर' नरक सब मूँदि करि,
मूँदि दरवाजेन को तजि यह थान दै॥
देखु यह देवनदी[1] कीन्हें सब देव, या तें
दूतन बुलाइ कै बिदा के बेगि पान दै।
फारि डारु फरद[2] न राखु रोजनामा कहूँ,
खाता खति जान दै बही को बहि जान दै ॥३॥

जान्यों जिन है न जज्ञ जोग जप जागरन,
जन्महि बितायो जग जोयन को जोइ कै।
कहै 'पदमाकर' सुदेवन की सेवन तें,
दूरि रहे पूरि मति बेदरद होइ कै॥
कुटिल कुराही क्रूर कलही कलंकी, कलि-
काल की कथान में रहे जे मति खोइ कै।

[1]गंगा। [2]चिट्ठा।

तेऊ बिस्नु-अंगन में बैठे सुर-संगन में,
गंग की तरंगन में अंगन को धोइ कै ॥४॥

जैसे तै न मोंसों कहूँ नेकहू डरात हुतो,
तैसो अब तोसों हौं हू नेकहू न डरिहौं।
कहै 'पद्माकर' प्रचंड जौ परैगो तौ,
उमंडि करि तोसों भुजदंड ठोकि लरिहौं॥
चलो-चलु चलो-चलु बिचलु न बीच ही तें,
कीच-बीच नीच तो कुटुंब को कचरिहौं।
ए रे दगादार मेरे पातक अपार तोहि,
गंगा की कछार में पछारि छार[1] करिहौं ॥५॥

आयो जौन तेरी धौरी धारा में धसत जात,
तिनको न होत सुरपुर ते निपात[2] है।
कहै 'पद्माकर' तिहारो नाम जा के मुख,
ताके मुख अमृत को पुंज सरसात है॥
तेरो तोय छ्वै कै औ छुवति तन जाको बात,
तिन की चलै न जमलोकन में बात है।
जहाँ-जहाँ मैया, तेरी धूरि उड़ि जाति गंगा,
तहाँ-तहाँ पापन की धूरि उड़ि जात[3] है ॥६॥

जमपुर द्वारे लगे तिन में केवारे, कोऊ
है न रखवारे ऐसे बन के उजारे हैं।
कहै 'पद्माकर' तिहारे प्रन धारे तेउ,
करि अघ भारे सुरलोक को सिधारे हैं॥
सुजन सुखारे करे पुन्य उजियारे अति,
पतित-कतारे भवसिंधु ते उतारे हैं।

[1]खाक। [2]पतन। [3]नाम-निशान मिट जाता है।

काहू ने न तारे तिन्हैं गंगा तुम तारे, और,
जेते तुम तारे तेते नभ में न तारे हैं ॥७॥

बिधि के कमंडल की सिद्धि है प्रसिद्धि यही,
हरि - पद - पंकज - प्रताप की लहर है।
कहै 'पद्माकर' गिरीस-सीस-मंडल के,
मुंडन की माल ततकाल अघहर है ॥
भूपति भगीरथ के रथ की सुपुन्य-पथ,
जन्हु - जप - जोग - फल - फैल की फहर है।
छेम[1] की छहर[2] गंगा रावरी लहर,
कलिकाल को कहर[3] जमजाल को जहर है ॥८॥

हौं तौ पंचभूत[4] तजिबे को तक्यो तोहि, पर
तैं तौ कर्यो मोहिं भलो भूतन को पति है।
कहै 'पद्माकर' सु एक तन तारिबे में,
कीन्हें तन ग्यारह[5] कहौ सो कौनि गति है ॥
मेरे भाग गंग यहै लिखी भागीरथी, तुम्हैं
कहिये कछुक तौ कितेक मेरी मति है।
एक भवसूल आयौ मेटिबे को तेरे कूल,
तोहि तो त्रिसूल देत बार न लगति है ॥९॥

जोग जप जागै छाँड़ि जाहु न परागै भैया,
मेरी कही आँखिन के आगे सु तौ आवैगी।
कहै 'पद्माकर' न ऐहै काम सरस्वती,
साँच हू कलिंदी कान करन न पावैगी ॥
लैहै छीनि अंबर दिगंबर[6] कै जोरावरी,
बैल पै चढ़ाई फेरि सैल पै चढ़ावैगी।

[1]कल्याण। [2]फैलानेवाला। [3]आफ़त। [4]पंचभूतात्मक शरीर। [5]शिवजी के ग्यारह रूप माने गए हैं, यथा—अज, एकपात, अहिर्बुध्न्य, अपराजित, पिनाकी, त्र्यम्बक महेश्वर, वृषाकपि, शम्भु, हरण और ईश्वर। [6]नंगा।

मुंडन के माल की भुजंगन के जाल की,
सु गंगा गजखाल की खिलत[1] पहिरावैगी ॥१०॥

(२) प्रबोधाष्टक

कवित्त

देव - नर - किन्नर कितेक गुन गावत पै,
पावत न पार जा अनंत गुन पूरे को।
कहै 'पद्माकर' सु गाल के बजावत ही,
काज करि देत जन जाचक जरूरे को ॥
चंद की छटान - जुत पन्नग - फटान[2] जुत,
मुकुट बिराजै जटाजूटन के जूरे को।
देखौ त्रिपुरारि की उदारता अपार जहाँ,
पैये फल चारि[3] फूल एक दै धतूरे को ॥१॥

व्याधहू तें बिहद असाधु हौं अजामिल तें,
ग्राह तैं गुनाही कहौ तिनमें गनाओगे।
स्योरी हौं न सूद्र हौं न केवट कहूँ को, त्यौं न
गौतमी तिया हौं जापै पग धरि जाओगे ॥
राम सों कहत 'पद्माकर' पुकारि, तुम
मेरे महापापन को पारहू न पाओगे।
सीता सी सती को तज्यो झूठोई कलंक सुनि,
साँचोई कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे ॥२॥

जोग जप संध्या साधु साधन सबैई तजे,
कीन्हें अपराध ते अगाध मन भावते।
तेते तजि औगुन अनंत 'पद्माकर' तौ,
कौन गुन लैकै महाराजहि रिझावते ॥

[1]सम्मान का चोगा. [2]सर्पों के फन। [3]चारों पदार्थ, यथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

जैसे अब तैसे पै तिहारे बड़े काम के हैं,
नाहीं तौ न एते बैन कबहूँ सुनावते।
पावते न मो सो जो पै अधम कहूँ तो राम,
कैसे तुम अधम - उधारन कहावते ॥३॥

सवैया

राम को नाम जपै निसि बासर, राम ही को इक आसरो भारो।
भूलो न भूल की भीरन में, 'पद्माकर' चाहि चितौनि को चारो ॥
ज्यों जलमें जलजात के पात, रहै जग में त्यों जहान ते न्यारो।
आपने सो सुख औ दुख दौरि जु, और को देखै सु देखनहारो ॥४॥
को किहि को सुत को किहि को पितु, को किहि को पति कौन की को ती[1]।
कौन को को जग ठाकुर चाकर, को 'पद्माकर' कौन को गोती ॥
जानकीजीवन जानि यहै, तजि दे तू सबै धन धाम औ धोती।
हौं तो न लोटतो लोभ लपेट में, पेट की जो पै चपेट न होती ॥५॥

कवित्त

आनँद के कंद जग ज्यावत[2] जगत वृंद,
दसरथ नंद के निबाहेई निबहिये।
कहै 'पद्माकर' पवित्र पन पालिबे कों,
चौरे चक्रपानि के चरित्रन को चहिये ॥
अवधबिहारी के बिनोदन में बीधि बीधि[3],
गीध गुन गीधे[4] के गुनानुबाद गहिये।
रैन दिन आठो जाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये ॥६॥
आवत हू जात खात खेलत खुलत गात,
छींकत छकात चुपचाप ह्वै न रहिये।

[1]स्त्री। [2]जिलाते हैं। [3]फँसकर, रमकर। [4]गृद्ध के गुणों को स्मरण रखनेवाले श्रीरामचन्द्र।

कहै 'पद्माकर' परेहू परभात, प्रेम-
पागत परात परमातमा न जहिये ॥
बैठत उठत जात जागत जँभात मुख,
सोवत हू सापने न औरे नाथ नहिये।
रैन - दिन आठो जाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये ॥७॥

सुखद सुकंठ - सखा साहिब सरन्य सुचि,
सूधे सत्यसंध के प्रबंधन को गहिये।
कहै 'पद्माकर' कलेस हर कौसलेस,
कामद कबंध - रिपु ही को लै उमहिये ॥
राजिवनयन रघुराज राजा राजाधिप,
रूप रतनाकर को राजी राखि रहिये।
रैन-दिन आठोजाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये ॥८॥

१३—ठाकुर

कवि ठाकुर (बुन्देलखंडी) जाति के कायस्थ थे। इनका असली नाम लाला ठाकुरदास था। इनका जन्म संवत् १८२३ में ओरछा में हुआ था। इनका कविता-काल संवत् १८५० से १८८० तक माना जाता है। ये कई रियासतों में गए और सम्मानित हुए। इनकी रचनाओं का एक अच्छा संग्रह 'ठाकुर ठसक' नाम से स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी ने किया है। ये प्रेम-निरूपण और लोक व्यापार में बड़े निपुण कवि थे। इनकी मृत्यु संवत् १८८० में हुई। ठाकुर नाम के एक दूसरे कवि असनी निवासी ब्रह्मभट्ट हो गए हैं, जिनका जन्म सं० १७९२ में कहा जाता है। उनकी रचनाएँ इतनी प्रसिद्ध नहीं हैं।

कवित्त

बैर प्रीति करिबे की मन में न राखे संक,
राजाराव देखिकै न छाती धकधाकरी।
अपनी उमंग की निबाहिबे की चाह जिन्हैं,
एक सो दिखात तिन्हैं बाघ और बाकरी॥
'ठाकुर' कहत मैं बिचार कै बिचार देखो,
यहै मरदानन की टेक बात आकरी।
गही जौन गही, जौन छोड़ी तौन छोड़ दई,
करी तौन करी बात ना करी सो ना करी॥१॥

सामिल में पीर में सरीर में न भेद राखै,
हिम्मत कपाट को उघारै तौ उघरि जाय।
ऐसे ठान ठानै तो बिनाहू जंत्र मंत्र किये,
साँप के जहर को उतारै तो उतरि जाय॥
'ठाकुर' कहत कछु कठिन न जानौ अब,
हिम्मत किये ते कहो कहा न सुधरि जाय।

चारि जने चारिहू दिसातें चारों कोन गहि,
मेरु को हलाय कै उखारै तो उखरि जाय ॥२॥

जौ लौं कोऊ पारखी सों होन नहिं पाई भेंट,
तबही लौं तनक गरीब लौं सरीरा हैं।
पारखी सों भेंट होत मोल बढ़े लाखन को,
गुनन के आगर सुबुद्धि के गँभीरा हैं॥
'ठाकुर' कहत नहिं निंदो गुनवारन को,
देखिबे को दीन ये सपूत सूरबीरा हैं।
ईसुर के आनस[1] तें होत ऐसे मानस[2] जे,
मानस सहूरवारे धूर भरे हीरा हैं॥३॥

हिलिमिलि लीजिये प्रबीनन तें आठो जाम,
कीजिये अराम जासों जिय को अराम है।
दीजिये दरस जाको देखिबे को हौस होय,
कीजिये न काम जासों नाम बदनाम है॥
'ठाकुर' कहत यह मन में बिचारि देखो,
जस अपजस को करैया सब राम है।
रूप से रतन पाय चातुरी से धन पाय,
नाहक गँवाइबो गँवारन को काम है॥४॥

सुकबि सिपाही हम उन रजपूतन के,
दान युद्ध बीरता में नेकहू न सुरके।
जस के करैया हैं मही के महिपालन के,
हिये के बिसुद्ध हैं सनेही साँचे उर के॥
'ठाकुर' कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदेनियाँ ससुर के।

[1]अंश। [2]मनुष्य।

चोजन के चोजी महा मौजिन के महाराज,
हम कविराज हैं पै चाकर चतुर के ॥५॥
आपने बनाइबे को और को बिगारिबे को,
सावधान ह्वै के सीखे द्रोह से हुनर है।
भूल गये करुनानिधान स्याम मेरे जान,
जिनको बनायो यह बिस्व को बितर है॥
'ठाकुर' कहत पगे सबै मोह माया मध्य,
जानत या जीवन को अजर अमर है।
हाय! इन लोगन को कौन सो उपाय, जिन्हैं
लोक को न डर परलोक को न डर है ॥६॥
ग्वारन को यार है सिँगार सुख सोभन को,
साँचो सरदार तीन लोक रजधानी को।
गाइन के संग देख आपनो बखत लेख,
आनँद विसेष रूप अकह कहानी को॥
'ठाकुर' कहत साँचो प्रेम को प्रसंग वारो,
जा लख अनंग-रंग-दंग[1] दधिदानी को।
पुन्य नंदजू को, अनुराग ब्रजबासिन को,
भाग जसुमति को, सुहाग राधारानी को ॥७॥

सवैया

यह प्रेम कथा कहिये किहिसों, सु कहे सों कहा कोउ मानत है।
पर ऊपरी धीर बँधायो चहैं, तन रोग न वा पहिचानत है॥
कहि 'ठाकुर' जाहि लगी कसकै[2], सु तो को कसकै[3] उर आनत है।
बिन आपने पाय बेवाय फटे, कोउ पीर पराई न जानत है ॥८॥

---

[1] कामदेव का रंग फीका पड जाता है। [2] चोट, पीड़ा। [3] पूर्ण रूप से।

१४—दीनदयाल गिरि

इनका जन्म संवत् १८५६ में काशी के गायघाट मुहल्ले में एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके माता पिता इन्हें पाँच वर्ष की अवस्था में महंत कुशागिरि को सौंप कर स्वर्गवासी हो गए। महंत कुशागिरि का एक मठ गायघाट पर भी था। ये पंचकोशी मार्ग में देहली विनायक मठ और मंदिर के अधिकारी थे। इन्हीं के शिष्य और बाद में उत्तराधिकारी बाबा दीनदयाल गिरि हुए। ये संस्कृत और हिन्दी दोनों के अच्छे विद्वान् थे। इनकी अन्योक्तियाँ हिन्दी में प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा परिष्कृत और सुव्यवस्थित होती थी। इनका 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' हिन्दी साहित्य में एक अनमोल रत्न है। इसमें लोक-व्यवहार-शिक्षा के अतिरिक्त कुछ अध्यात्म-पक्ष की भी अन्योक्तियाँ हैं। इसके अतिरिक्त इनके रचित और भी ग्रन्थ हैं—अनुराग-बाग, वैराग्य-दिनेश, विश्वनाथ-नवरत्न और दृष्टान्त-तरंगिणी। इनकी सारी रचनाएँ संवत् १८७६ से १९१२ तक हुई हैं। इनका परलोकवास संवत् १९१५ में हुआ।

अन्योक्ति

जिन तरु को परिमल[1] परसि, लियो सुजस सब ठाम।
तिन भंजन करि आपनो, कियो प्रभंजन[2] नाम॥
कियो प्रभंजन नाम, बड़ो कृतघन बरजोरी।
जब जब लगी दवागि[3], दियो तब झोंकि झँकोरी॥
बरनै 'दीनदयाल', सेउ अब खल थल मरु को।
ले सुख सीतल छाँह, तासु तोर्‌यो जिन तरु को॥१॥
केतो सोम[4] कला करो, करो सुधा को दान।
नहीं चन्द्रमनि जो द्रवै, यह तेलिया[5] पखान॥
यह तेलिया पखान, बड़ी कठिनाई जाकी।
टूटी याके सीस, बीस बहु बाँकी टाँकी॥

[1]सुगंधि। [2]आँधी। [3]वन में लगनेवाली आग। [4]चन्द्रमा। [5]एक प्रकार का कड़ा पत्थर।

बरनै 'दीनदयाल', चंद तुमही चित चेतो।
क्रूर न कोमल होंहिं, कला जो कीजै केतो ॥२॥

बरखै कहा पयोद इत, मानि मोद मन माहिं।
यह तो ऊसर भूमि है, अंकुर जमिहैं नाहिं॥
अंकुर जमिहैं नाहिं, बरष सत जो जल दैहै।
गरजै तरजै कहा, वृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै 'दीनदयाल', न ठौर कुठौरहि परखै।
नाहक गाहक बिना, बलाहक[1] ह्याँ तू बरखै ॥३॥

रंभा[2] झूमत हौ कहा, थोरे ही दिन हेत।
तुमसे केते ह्वै गये, अरु ह्वै हैं यहि खेत॥
अरु ह्वै हैं यहि खेत, मूल लघु साखा हीने।
ताहू पै गज रहै, दीठि तुम पै प्रति दीने॥
बरनै 'दीनदयाल', हमै लखि होत अचम्भा।
एक जनम के लागि, कहा झुकि झूमत रम्भा ॥४॥

नाहीं भूलि गुलाब तू, गुनि मधुकर गुंजार।
यह बहार दिन चार की, बहुरि कटीली डार॥
बहुरि कटीली डार, होहिगी ग्रीषम आये।
लुवैं चलेंगी संग, अंग सब जैहैं ताये॥
बरनै 'दीनदयाल', फूल जौलौं तो पाहीं।
रहे घेरि चहुँ फेरि, फेरि अलि ऐहैं नाहीं ॥५॥

टूटे नख-रद[3] केहरी, वह बल गयो थकाय।
हाय जरा[4] अब आइकै, यह दुख दियो बढ़ाय॥
यह दुख दियो बढ़ाय, चहूँ दिसि जंबुक[5] गाजैं।
ससक[6] लोमरी आदि, स्वतंत्र करैं सब राजैं॥
बरनै 'दीनदयाल', हरिन बिहरैं सुख लूटे।

[1]बादल। [2]केले का पेड़। [3]नाखून और दाँत। [4]बुढ़ापा। [5]सियार। [6]खरगोश।

पंगु भयो मृगराज, आज नख-रद के टूटे ॥६॥
पैहौ कीरति जगत में, पीछे धरो न पाँव।
छत्री कुल के तिलक हे, महा समर या ठाँव॥
महा समर या ठाँव, चलैं सर कुन्त[1] कृपानैं।
रहे बीर गन गाजि, पीर उर में नहिं आनैं॥
बरनै 'दीनदयाल', हरषि जो तेग चलै हौ।
ह्वै हौ जीते जसी, मरे सुर लोकहि पैहौ॥७॥
भारी भार भर्यो बनिक, तरिबो सिंधु अपार।
तरी[2] जरजरी फँसि परी, खेवन हार गँवार॥
खेवन हार गँवार, ताहि पर पौन झँकोरै।
रुकी भँवर में आय, उपाय चलै न करोरै॥
बरनै 'दीनदयाल', सुमिर अब तू गिरधारी।
आरत जन के काज, कला जिन निज संभारी॥८॥
कोई संगी नहिं उतै, है इतही को संग।
पथी लेहु मिलि ताहि ते, सबसों सहित उमंग॥
सबसों सहित उमंग, बैठि तरनी के माहीं।
नदिया नाव सँयोग, फेरि यह मिलिहै नाहीं॥
बरनै 'दीनदयाल', पार पुनि भेंट न होई।
अपनी अपनी गैल, पथी जैहैं सब कोई॥९॥
राही सोवत इन किते, चोर लगैं चहुँ पास।
तो निज धन के लेन को, गिनैं नींद की स्वाँस॥
गिनैं नींद की स्वाँस, बास बसि तेरे डेरे।
लिये जात बनि मीत, माल ये साँझ सबेरे॥
बरनै 'दीनदयाल', न चीन्हत है तू ताही।
जाग जाग रे जाग, इतै कित सोवत राही॥१०॥

[1] भाला। [2] नाव।

१५—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म काशी के सम्पन्न अग्रवाल वैश्य-कुल में संवत् १६०७ में हुआ। इनके पिता श्रीगोपालचन्द्र (उपनाम गिरिधरदास) भी अच्छे कवि थे। बचपन ही से इनकी रुचि कविता करने की ओर थी। इन्होंने कवि-वचन-सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन, हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका, और बाला-बोधिनी आदि पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया। काशी में बालक और बालिकाओं की शिक्षा के लिये विद्यालय भी खोले। इन्हीं का स्थापित चौखम्भा स्कूल आज हरिश्चन्द्र इंटरमीडिएट कालेज के नाम से काशी में एक प्रतिष्ठित विद्यालय है। भारतेन्दुजी ने अपने समय में हिन्दी गद्य का एक व्यवस्थित रूप स्थापित किया। अनेक नाटकों का संस्कृत और बंगला से अनुवाद करके हिन्दी में प्रकाशन किया। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के भंडार की वृद्धि करते हुए आपने बहुत कुछ साहित्य-सेवा, देश-सेवा और लोक-सेवा की है। हिन्दी-प्रचार का स्तुत्य कार्य आपके ही द्वारा आरंभ हुआ। इन्होंने कितनों ही को हिन्दी लेखक और कवि बना दिया और हिन्दी की ओर अभिरुचि उत्पन्न कर दी। इन्होंने सब मिलाकर १७५ ग्रन्थों की रचना की है। वर्त्तमान हिन्दी के जन्मदाता कहलाने का श्रेय भारतेन्दुजी को ही है। इनकी साहित्य-सेवा से मुग्ध होकर जनता ने इन्हें 'भारतेन्दु' की उपाधि दी। चौंतीस वर्ष की अल्पायु में ही इनका देहावसान हो गया।

प्रबोधिनी

छप्पय

जागो मंगल-रूप सकल ब्रज-जन-रखवारे।
जागो नन्दानन्द-करन जसुदा के बारे॥
जागो बलदेवानुज रोहिनि मात-दुलारे।
जागो श्री राधाजू के प्रानन तें प्यारे॥

जागो कीरति - लोचन - सुखद, भानु-मान - बर्द्धित - करन ।
जागो गोपी - गो - गोप - प्रिय, भक्त - सुखद असरन - सरन ॥१॥
होन चहत अब प्रात, चक्रवाकिनि सुख पायो ।
उड़े बिहग तजि बास चिरैयन रोर मचायो ॥
नव मुकुलित उत्पल[१] पराग लै सीत सुहायो ।
मंथर[२] गति अति पवन करत पंडुर[३] बन धायो ॥
कलिका उपवन विकसन लगीं, भँवर चले संचार करि ।
पूरब पच्छिम दोउ दिसि अरुन, तरुन अरुन कृत तेज धरि ॥२॥
नारद तुंबरु[४] षट विभास[५] ललितादि[६] अलापत ।
चारहु मुखसों वेद पढ़त बिधि तुव जस थापत ॥
इन्द्रादिक सुर नमत जुहारत थर थर काँपत ।
व्यासादिक रिषि हाथ जोरि तुव अस्तुति जापत ॥
जय विजय गरुड़ कपि आदिगन, खरे खरे मुजरा करत ।
शिव डमरू लै गुनगाइ तुव, प्रेम मगन आनँद भरत ॥३॥
दुर्गादिक सब खरीं, कोर नैनन की जोहत ।
गंगादिक आचँवन हेत, घट लाईं सोहत ॥
तीरथ सब तुव चरन-परस हित ठाढ़े मोहत ।
तुलसी लीने कुसुम, अनेकन माला पोहत ॥
ससि सूर पवन घन इंदिरा, निज निज सेवा में लगत ।
ऋतु काल यथा उपचार में, खरे भरे भय सगबगत ॥४॥
करत काज नहिं नंद, बिना तुव मुख अवरेखे ।
दाऊ बन नहिं जात, बदन सुन्दर बिनु देखे ॥
ग्वालिन दधि नहिं बेंचि सकत लालन बिनु पेखे ।
गोप न चारत गाय, लखे बिनु सुंदर भेखे ॥
भइ भीर द्वार भारी खरे, सब मुख निरखन आस करि ॥

[१]कमल । [२]मंद । [३]पेंडकी, फाख्ता । [४]-[५]-[६]राग विशेष ।

बलिहार जागिये देर भइ, बन गोचारन चेत धरि ॥५॥

डूबत भारत नाथ, बेगि जागो अब जागो।
आलस-दव एहि दहन हेतु चहुँ दिसि सों लागो।
महा-मूढ़ता वायु बढ़ावत, तेहि अनुरागो।
कृपा-दृष्टि की वृष्टि, बुझावहु आलस त्यागो॥
अपुनो अपुनायो जानि कै, करहु कृपा गिरिवर-धरन।
जागो बलि बेगिहि नाथ अब, देहु दीन हिन्दुन सरन ॥६॥

प्रथम मान धन बुधि कोशल बल देइ बढ़ायो।
क्रम सों विषय-विदूषित जन करि तिनहिं घटायो॥
आलस में पुनि फाँसि, परसपर बैर चढ़ायो।
ताही के मिस जवन, काल सम को पग आयो॥
तिनके कर की करवाल बल, बाल-वृद्ध सब नासि कै।
अब सोवहु होय अचेत तुम, दीनन के गल फाँसि कै ॥७॥

कहँ गये विक्रम भोज, राम बलि कर्ण युधिष्ठिर।
चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करिकै थिर॥
कहँ छत्री सब मरे, जरे सब गए किते गिर।
कहाँ राज को तौन, साज जेहि जानत है चिर॥
कहँ दुर्ग सैन्य धन बल गयो, धूरहि धूर दिखात जग।
जागो अब तो खल-बल-दलन, रच्छहु अपुनो आर्य मग ॥८॥

गयो राज धन तेज, रोष बल ज्ञान नसाई।
बुद्धि बीरता श्री उछाह सूरता बिलाई॥
आलस कायरपनो, निरुद्यमता अब छाई।
रही मूढ़ता बैर, परस्पर कलह लराई॥
सब बिधि नासी भारत-प्रजा, कहुँ न रह्यो अवलंब अब।
जागो जागो करुनायतन, फेरि जागिहौ नाथ कब ॥९॥

सीखत कोउ न कला, उदर भरि जीवत केवल।
पसु समान सब अन्न खात पीवत गंगाजल॥

धन बिदेस चलि जात, तऊ जिय होत न चंचल ।
जड़ समान ह्वै रहत, अकिल हत रचि न सकत कल ॥
जीवत बिदेस की वस्तु लै, ता बिन कछु नहिं करि सकत ।
जागो जागो अब साँवरे, सब कोउ रुख तुमरो तकत ॥१०॥
सब देसन की कला, सिमिटि कै इतही आवै ।
कर राजा नहिं लेइ, प्रजन पैं हेत बढ़ावै ॥
गाय दूध बहु देहिं, तिनहिं कोऊ न नसावै ।
द्विज गन आस्तिक[1] होहिं, मेघ सुभ जल बरसावै ॥
तजि छुद्र बासना नर सबै, निज उछाह उन्नति करहिं ।
कहि कृष्ण राधिका-नाथ जय, हमहूँ जिय आनँद भरहिं ॥११॥

---

[1] ईश्वर के अस्तित्व को माननेवाले ।

परिशिष्ट

(क)—नवरसालोक

रस—जब कोई स्थायी भाव अपनी पूर्ण परिपक्वावस्था को प्राप्त होकर अपने आश्रय को लोकोत्तर आनन्द का अनुभव कराने में समर्थ होता है, तब वही 'रस'-रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार नव स्थायी भावों की परिपक्वावस्था से नव रसों का निर्माण होता है। यथा—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, ग्लानि, आश्चर्य और निर्वेद—इन नव स्थायी भावों से क्रमशः शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त रसों का निर्माण होता है।

विभाव—जिनके कारण (देखने, सुनने वा स्मरण करने से) हृदय-स्थित स्थायी भावों की स्वभावतः जागृति हो जाती है उन्हें 'विभाव' कहते हैं, अथवा स्थायी भाव की जागृति के कारण को विभाव कहते हैं। इसके दो रूप होते हैं। आन्तरिक भावों के उत्पादक कारण-रूप वस्तु या व्यक्ति को आलम्बन-विभाव तथा उसके (आलम्बन के) किसी कार्य, दृश्य वा विकार को, जिसके कारण जागरित भावों में विशेष उत्तेजना या चैतन्य होता है, उद्दीपन विभाव कहते हैं।

अनुभाव—जिन क्रियाओं से रसास्वाद का बोध होता है उन्हें अनुभाव कहते हैं। इनका बोध तीन प्रकार से होता है—(१) सात्विक—अनायास स्वतः अंगों में आक्षेप स्फुरण आदि विकारों का हो उठना सात्विक अनुभाव है। ये सात्विक अनुभाव आठ प्रकार के माने गए हैं, यथा—स्तम्भ, कम्प, स्वरभङ्ग, वैवर्ण्य (रूप का पीला, स्याह, आदि हो जाना), अश्रु, स्वेद, प्रलय (अत्यन्त घबड़ाहट, हृदय में हाहाकार मच जाना), और रोमांच। (२) कायिक—अंगों के आक्षेप, स्फुरण आदि, जैसे आँख-भौं चढ़ाना, ओठ फड़कना, हाथ-पाँव, मुँह चलाना आदि। (३) मानसिक—आन्तरिक अनुभव करना।

सञ्चारी भाव—जिस प्रकार एक बहती नदी में भाँति-भाँति की लहरें

उठतीं और पुनः समा जाती हैं, उसी प्रकार कुछ क्षणिक भाव के विकार मन में उठते और पुनः नष्ट हो जाते हैं। ऐसे ही भावों या विकारों को संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं। ये ३३ प्रकार के होते हैं; यथा—निर्वेद, ग्लानि, शंका, गर्व, चिन्ता, मोह, विषाद, दैन्य (दीनता), असूया (डाह), मृत्यु, मद, आलस्य, श्रम, उन्माद, अवहित्थ (आकृति छिपाना), चपलता, अपस्मार (मृगी रोग की सी छटपटाहट), भय, व्रीड़ा (लज्जा), जड़ता, हर्ष, धृति (धैर्य), मति, आवेग, उत्कण्ठा, निद्रा, स्वप्न, व्याधि, उग्रता, अमर्ष (आन पैदा हो जाना), विबोध, वितर्क, और स्मृति।

स्थायीभाव—रस के अनुकूल भाव की चेतना को स्थायी भाव कहते हैं, जो रस के बीज-रूप होते हैं। ये रस उत्पन्न होने के आरम्भ से अन्त तक स्थिर रह कर रस का अनुभव कराते हैं। ये नव प्रकार के हैं। प्रत्येक स्थायी-भाव अपने रस का मूलाधार होता है।

श्रृंगार रस

रति थाई ते होत है, रस श्रृंगार 'विनीत'।
सो द्वै बिधि संयोग पुनि, कहि वियोग की रीति ॥१॥

उदाहरण—संयोग श्रृंगार

छूट्यो गेह-काज लोक-लाज मनमोहिनी को,
भूल्यो मनमोहन को मुरली बजाइबो।
देखो दिन द्वै में 'रसखानि' बात फैलि जैहै,
सजनी कहा लौं चन्द हाथन दुराइबो ॥
कालहू कलिन्दी तीर चितयो अचानक ही,
दोउन को दोऊ मुरि मृदु मुसकाइबो।
दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हें भूलि गईं गैयाँ इन्हें गागर उठाइबो ॥२॥

उदाहरण—वियोग श्रृंगार

सुभसीतल मंद सुगंध समीर कछू छल छंद से छ्वै गये हैं।
'पदमाकर' चाँदनी चंदहु के कछु औरहि डौरन ध्वै गये हैं ॥

मनमोहन सों बिछुरे इतही बनिकै न अबै दिन द्वै गये हैं।
सखि वे हम वे तुम वेई बने, पै कछू के कछू मन ह्वै गये हैं ॥३॥

हास्य रस

विकृताकृति चेष्टा तथा, वेष देखि सुनि बात।
उपजत थाई हास सों, हास्य 'विनीत' कहात ॥४॥

उदाहरण

दानी कोउ नाहिं ना गुलाबदानी गोंददानी,
पीकदानी घनी सोभा इनहीं में लहे हैं।
मानत गुनी को गुनहीं में प्रकटत देख्यो,
याते गुनीजन मन सावधानी गहे हैं॥
हय-दान हेम-दान गज-दान भूमि-दान,
सुकबि सुनाए औ पुरानन में कहे हैं।
अब तौ कलमदान जुजदान जामदान,
खानदान पानदान कहिबे को रहे हैं ॥५॥

दोना पात बबूर को, तामें तनिक पिसान।
राजाजी करने लगे, छुठे छमासे दान ॥६॥

दाम की दाल छदाम के चाउर, घी अँगुरीन लै दूरि दिखायो।
टोनो सो नोन धर्‍यो कछु आनि, सबै तरकारी को नाम गनायो॥
बिप्र बुलाय पुरोहित को, अपने दुख को बहु भाँति गनायो।
साहजी आजु सराध कियो, सो भली बिधि सों पुरखा फुसलायो ॥७॥

करुण रस

इष्ट हानि ते होत जब, हिरदय द्रवित विपन्न।
थायी शोक 'विनीत' कहि, रस सु करुण उत्पन्न ॥८॥

उदाहरण

राम भरत-मुख मरन सुनि, दसरथ के बन माँह।
महि परि भे रोदत उचरि, "हा पितु हा नरनाह" ॥९॥

बतियाँ हुती न सपनेहूँ सुनिबे की सो
सुन्यो मैं, जो हुती न कहिबे की सो कहोई मैं।
रोवैं नर-नारी पच्छी-पसु देहधारी रोवैं,
परम दुखारी जासों सूलनि सहोई मैं॥
हाय अवलोकिबो कुपन्थहि गहोई,
बिरहागिनि दहोई सोक-सिन्धु निबहोई मैं।
हाय प्रानप्यारे रघुनन्दन, दुलारे तुम,
बन को सिधारे प्रान तन लै रहोई मैं॥१०॥

रौद्र रस

क्रोध रूप धरि उग्र अति, होत जु आविर्भूत।
कहि 'विनीत' सो रौद्र रस, गिरि पर जिमि पुरुहूत॥११॥

उदाहरण

बोरौं सबै रघुवंश कुठार की धार में बारन बाजि सरत्थहिं।
बाण की बायु उड़ाय कै लच्छन, लच्छ करौं अरिहा समरत्थहिं॥
रामहि बाम समेत पठै बन, शोक के भार में भूँजौं भरत्थहिं।
जो धनु हाथ लियो रघुनाथ, तो आजु अनाथ करौं दसरत्थहिं॥१२॥

वारि टारि डारौं कुंभकर्नहिं बिदारि डारौं,
मारौं मेघनादै आजु यों बल अनंत हौं।
कहै 'पदमाकर' त्रिकूट हू को ढाहि डारौं,
डारत करेई यातुधानन को अन्त हौं॥
अच्छहि निरच्छ कपि रुच्छ ह्वै उचारौं इमि,
तोसे तिच्छ तुच्छन कौ कछुवै न गन्त हौं।
जारि डारौं लंकहिं उजारि डारौं उपवन,
फारि डारौं रावन को तो मैं हनुमन्त हौं॥१३॥

वीर रस

परिपूरन उत्साह जब, होत हृदय में आन।
उदय होत तहँ बीर रस, चारि प्रकार बखान॥१४॥

युद्ध दया पुनि दान कहि, धरम सुचारि प्रमान।
कहि 'विनीत' कवि सबन में, है उत्साह प्रधान ॥१५॥

उदाहरण—युद्धवीर

भोरते साँझ लौं सूर चलैं, अरु सूर चले हैं कबन्ध परे लौं।
ये सिरताज गनीमन को, प्रण तौ न टरे दुहुँ लोक टरे लौं॥
ऐसी बही अरबी गरबी, सिव संकर हू यमलोक डरे लौं।
सो सिर काटि गनीमन के, तरवार वही तरवा के तरे लौं ॥१६॥

उदाहरण—दयावीर

पापी अजामिल पार कियो, जेहि नाम लियो सुतही को नरायन।
त्यों 'पद्माकर' लात लगे पर, बिप्रहू के पग चौगुने चायन॥
को अस दीनदयाल भयो, दसरत्थ के लाल से सूधे सुभायन।
दौरे गयंद उबारिबेको प्रभु, बाहन छाँड़ि उबाहने पायन ॥१७॥

उदाहरण—दानवीर

संपति सुमेर की कुबेर की जु पावै ताहि,
तुरत लुटावत विलम्ब उर धारै ना।
कहै 'पद्माकर' सु हेम हय हाथिन के,
हलके हजारन के बितर बिचारै ना॥
गंज गज बकस महीप रघुनाथ राव,
पाय गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना।
याही डर गिरिजा गजानन को गोइ रही,
गिरि तें गरे तें निज गोद तें उतारै ना ॥१८॥

उदाहरण—धर्मवीर

तृन के समान धनधाम राज त्याग करि,
पाल्यो पितु बचन जो जानत जनैया है।
कहै 'पद्माकर' बिबेक ही को बानो बीच,
साँचो सत्यवीर धीर धीरज धरैया है॥

सुमृति पुरान बेद आगम कह्यो जो पंथ,
आचरत सोई सुद्ध करम करैया है।
मोह-मति-मंदर पुरंदर मही को धन्य,
धरम धुरंधर हमारो रघुरैया है ॥१६॥
धारि जटा बलकल भरत, गन्यो न दुख तजि राज।
भे पूजत प्रभु पादुकनि, परम धरम के काज ॥२०॥

भयानक रस

रूप भयंकर देखि कै, उर उपजत भय आन।
ताहि भयानक रस कहैं, कवि 'विनीत' मतिमान ॥२१॥

उदाहरण

बधिर भयो भुव-बलय, प्रलय जलधर जनु गर्जंत।
बिकल सकल दिकपाल, जटा-ससि भाल बिसर्जंत ॥
थिर न होत दसकंध, अंध थरथर उर लर्जंत।
उचकि चलत रबि रथ, तुरंग बाहन बिधि बर्जंत ॥
ब्रह्माण्ड गयो डुलि धुनि सुनी, अहि सुमेरु सब दलिमल्यो।
राजाधिराज अवधेस-सुत, चन्द्रचूड़ धरि धनु लयो ॥२२॥
एक ओर अजगरहि लखि, एक ओर मृगराय।
बिकल बटोही बीच ही, परो मूरछा खाय ॥२३॥

वीभत्स रस

दृश्य घिनावन देखि सुनि, उर उपजत जो भाव।
थाइ ग्लानि बीभत्स रस, कहि 'विनीत' मतिराव ॥२४॥

उदाहरण

सिर पर बैठो काग, आँख कोउ खात निकारत।
खींचत जीभहि स्यार, अतिहि आनँद उर धारत ॥
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि-खोदि कै माँस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि-काटि कै खान बिचारत ॥

बहु चील नोच लै जात तुच, मोद मढ़ो सबको हियो।
मनु ब्रह्मभोज जजमान कोउ, आजु भिखारिन कहँ दियो ॥२५॥
रिपु-अंत्रन की कुंडली, करि जुग्गिनि जु चबाति।
पीबहि में पागी मनो, जुवति जलेबी खाति ॥२६॥

अद्भुत रस

अचरज की थिरता जहाँ, पूर्ण रूप दरसाय।
अद्भुत रस सो जानिये, कहि 'विनीत' हरषाय ॥२७॥

उदाहरण

लीन्हो उखार पहार बिसाल चल्यो तेहि काल विलंब न लायो।
मारुत-नंदन मारुत को मन को खगराज को बेग लजायो ॥
तीखी तुरा 'तुलसी' कहतो पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो ॥२८॥
घन बरखत कर पर धर्यो, गिरि गिरिधर निरसंक।
अजब गोपसुत चरित लखि, सुरपति भयो ससंक ॥२९॥

शान्त रस

चित पूरन निश्चिन्त जब, रहित बिकार अनंत।
थाइ भाव निर्वेद कहि, शान्त 'विनीत' कहंत ॥३०॥

उदाहरण

आनँद के कंद जग ज्यावत जगत वृंद,
दसरथ नंद के निबाहेई निबहिये।
कहै 'पद्माकर' पवित्र पन पालिबे को,
चौरे चक्रपानि के चरित्रन को चहिये।
अवधबिहारी के विनोदन में बीधि बीधि,
गीध गुन गीधे के गुनानुबाद गहिये।
रैन दिन आठो याम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये ॥३१॥

(ख) छन्दसारावली

छन्द—जो रचना मात्रा, वर्ण-संख्या, विराम गति आदि के निश्चित नियमों के अधीन होती है उसे 'पद्य' वा 'छन्द' कहते हैं।

छन्द-भेद—छन्द दो प्रकार के होते हैं—(१) मात्रिक या जाति-छन्द, (२) वर्णिक या वर्णवृत्त। जिस छन्द के पदों में मात्राओं की संख्या का नियम रहता है उसे मात्रिक छन्द कहते हैं, और जिस छन्द के पदों में वर्णों की संख्या का नियम रहता है, अथवा जिसके पद निश्चित गणों में विभक्त रहते हैं उसे वर्णिक वा वर्णवृत्त कहते हैं।

मात्रा—वर्ण के उच्चारण करने में जो काल लगता है उसे मात्रा, कल या कला कहते हैं। ह्रस्व स्वरान्त वर्ण एक-मात्रिक और दीर्घ स्वरान्त वर्ण द्विमात्रिक कहलाते हैं। एक-मात्रिक वर्ण को लघु तथा द्विमात्रिक वर्ण को गुरु कहते हैं। छन्दशास्त्र में लघु के लिये एक खड़ी पाई (।) तथा गुरु के लिये वक्र चिह्न (ऽ) का संकेत बतलाया गया है।

गुरुवर्ण—द्विमात्रिक वर्णों के अतिरिक्त संयुक्ताक्षर के पूर्व का वर्ण (अनुस्वार और विसर्गयुक्त) भी गुरु होता है। कभी कभी पद के अन्त का लघु वर्ण भी जब द्विमात्रिक के समान बोला जाता है, गुरु माना जाता है।

गण—तीन तीन वर्णों के समूह को गण कहते हैं। वर्णवृत्त में इन्हीं गणों के द्वारा वर्णों की गणना की जाती। ये गण आठ हैं। इनके नाम और रूप नीचे दिये जाते हैं:—

आदिलघु	यगण	। ऽ ऽ
मध्यलघु	रगण	ऽ । ऽ
अन्तलघु	तगण	ऽ ऽ ।
आदिगुरु	भगण	ऽ । ।
मध्यगुरु	जगण	। ऽ ।
अन्तगुरु	सगण	। । ऽ

तीनों गुरु   मगण   ऽऽऽ

तीनों लघु   नगण   ।।।

गणों के स्वरूप को स्मरण रखने के लिये नीचे का दोहा काफ़ी है:—

आदि मध्य अरु अन्त क्रम, यरता में लघु जान।

भजसा में गुरु राखिए, मन गुरु लघु अय मान॥

इनमें से मगण, नगण, भगण और यगण शुभ एवं जगण, रगण, सगण और तगण अशुभ माने गए हैं। मात्रिक छन्दों के आरम्भ में अशुभ गणों का प्रयोग निषेध है।

प्रत्येक छन्द में प्रायः चार पद या चरण होते हैं। प्रत्येक चरण के अन्त में विराम होता है। किसी-किसी छन्द में चरण के भीतर भी एक, दो या अधिक विराम होते हैं। विराम को 'यति' भी कहते हैं। चरणों के विचार से छन्द के तीन भेद किए गए हैं।

जिन छन्दों के चारों चरण समान होते हैं उन्हें 'सम', जिनके पहले और तीसरे चरण एक समान, तथा दूसरे और चौथे चरण उसके भिन्न समान हों वे 'अर्द्ध सम' एवं जिनके चरण असमान हों वे 'विषम' कहे जायँगे।

छन्द
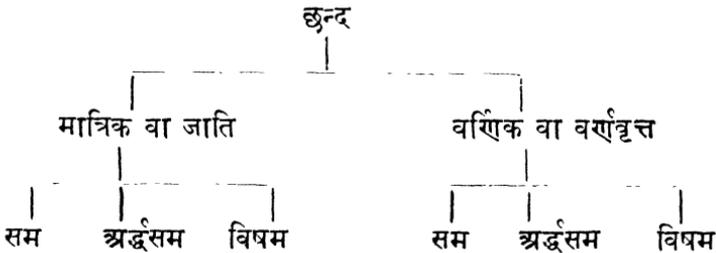
इस पुस्तक में आए हुए छन्दों के लक्षण आगे दिए जाते हैं। विद्यार्थियों के सुबीते का विचार करके प्रत्येक छन्द का लक्षण उसी छन्द के एक चरण में दिया गया है। इस प्रकार उसमें उस छन्द का नाम और लक्षण तो आ ही गया है, साथ ही वह चरण स्वयं अपने छन्द का उदाहरण भी है।

मात्रिक सम छन्द

उल्लाला—"बसु मुनि तेरह 'उल्लाल' में, कल अट्ठाइस सों रचै।"

प्रत्येक चरण में ८+७+१३ के विराम से २८ मात्राएँ होती हैं।

चौपाई— "सोरह जतन क्रमन 'चौपाई'।"
प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं। अंत में जगण और तगण न होने चाहिये।

रोला— " 'रोला' की चौबीस कला यति शंकर तेरा।"
प्रत्येक चरण में ११+१३ के विराम से २४ मात्राएँ होती हैं।

झूलना— "मुनि तीन पुनि पाँच युत गल 'झूलन' प्रथम मतिमान।"
प्रत्येक चरण में ७+७+७+५ के विराम से २६ मात्राओं का यह छन्द होता है। अंत में गुरु-लघु होना चाहिये।

हरिगीतिका—"सोरह रवी लग अंत दै रचि लीजिए 'हरिगीतिका'।"
प्रत्येक चरण में १६+१२ के विराम से २८ मात्राएँ होती हैं। अंत में लघु-गुरु होता है।

मात्रिक अर्द्ध-सम छन्द

दोहा— "विषम चरण तेरह कला, सम कल ग्यारह होइ।
आदि जगण नहिं, अंतलघु, रखिये दोहा सोइ।"

प्रत्येक विषम (पहले और तीसरे) चरणों में १३ मात्राएँ तथा सम (दूसरे और चौथे) चरणों में ११ मात्राएँ होनी चाहिए। विषम चरणों के आदि में जगण न हो और सम चरणों के अंत में लघु वर्ण अवश्य होना चाहिए।

सोरठा— "सम में तेरह राखि, विषम चरण ग्यारह गनौ।
ताहि सोरठा भाखि, दोहा उलटा जानिए॥"

प्रत्येक सम चरण में १३ मात्राएँ और विषम चरण में ११ मात्राएँ होनी चाहिये। यह दोहा का ठीक उलटा होता है।

मात्रिक विषम छन्द

छप्पय— "रोला के पद चार जहँ, उल्लाला पद दोय।
छ-पद युक्त पिंगल कहैं, छप्पय छन्द सु होय।"

प्रथम चार पद रोला के, फिर दो पद उल्लाला के मिलाकर छः

पदों के इस विषम (मिश्रित) छन्द को 'छप्पय' कहते हैं। वीर रस के काव्य में इसका प्रयोग ओजपूर्ण होता है।

कुण्डलिया—"दोहा रोला जोरि कै, छै पद चौबिस मत्त।
आदि अंत पद एकसों, करि कुण्डलिया सत्त॥
करि कुंडलिया सत्त, चरन चौथा दोहा को।
धरि रोला के आदि, रचिय पद चित मोहा को॥
कहि 'विनीत' कविराय सिंह-अवलोकन सोहा।
रचि कुंडलिया विषम, छंद पहिले धरि दोहा॥"

प्रथम दो पद दोहा के और फिर चार पद रोला के रखिए। दोहा के चौथे पद को ज्यों का त्यों रोला के आदि में सिंहावलोकन के ढंग से रखिए। यह भी ध्यान रहे कि दोहा का प्रथम शब्द रोला का अंतिम शब्द हो। इस प्रकार छः पदों का यह विषम छंद कुण्डलिया कहलाता है।

वर्ण-वृत्त समछंद
(सवैया के भेद)

मत्तगयंद या मालती सवैया—"सात भ दो गुरु दै रचिये, सुभ मालतिमत्त-गयंद सवैया।"

प्रत्येक चरण में ७ भगण और दो गुरु होते हैं। इसे मत्तगयंद या मालती सवैया कहते हैं।

दुर्मिल सवैया—"यह दुर्मिल नाम सवैयहि जो रखि **आठ स** तो कविता रचिये।"

प्रत्येक चरण में ८ सगण द्वारा २४ वर्णों की यह दुर्मिल सवैया होती है।

किरीट सवैया—"आठ भ धारत संग जुपै वह छंद किरीट कहावत है जग।"

प्रत्येक चरण में ८ भगण द्वारा २४ वर्णों की यह किरीट सवैया होती है।

अरसात सवैया—"सात भ एक र राखिय जामहँ, सो अरसात सवैयहि जानिए।"

प्रत्येक चरण में ७ भगण और एक रगण द्वारा २४ वर्णों की अरसात सवैया होती है।

दण्डक

घनाक्षरी वा मनहरण (कवित्त):—

"वर्ण इकतीस यति सोरह औ पन्द्रह पै,
कहिए कवित्त मनहरण घनाक्षरी।"

प्रत्येक चरण १६ + १५ वर्णों के विराम से ३१ का होता है। अन्त में गुरु का होना आवश्यक है। इसमें गणों का नियम नहीं रहता।

सम्मेलन द्वारा प्रकाशित पाठ्य पुस्तकें

उत्तमा परीक्षा

पुस्तक	मूल्य	पुस्तक	मूल्य
चित्ररेखा	१।।)	ग्रामों का पुनरुद्धार	१।)
डिंगल में वीर रस	१।।।)	वीर काव्य-संग्रह	२)
विकास (सेठ गोविन्ददास)	।।=)	तुलसी दर्शन	३)

मध्यमा परीक्षा

पुस्तक	मूल्य	पुस्तक	मूल्य
ब्रजमाधुरीसार	२।।)	हिन्दू राज्य-शास्त्र	३।।)
कबीर पदावली	१)	कवितावली	।।।)
संक्षिप्त अलंकार-मंजरी	१।।)	भूषण संग्रह भाग २	।।=)
हिन्दी साहित्य-समीक्षा	१।।)	हिन्दी गद्य-निर्माण	१।।)
ग्रामों का पुनरुद्धार	१।)	नागरी अंक और अक्षर	≡)
अकबर की राज्य-व्यवस्था	१)	भारतवर्ष का इतिहास	४।।।)

प्रथमा परीक्षा

पुस्तक	मूल्य	पुस्तक	मूल्य
सूर पदावली	।।=)	[illegible]	१)
सुदामा चरित्र	।)	पार्वती मंगल	।)
नवीन पद्य संग्रह	।।।)	भूषण संग्रह भाग १	।)
अलंकार-प्रकाश	।=)	प्रथमालंकार निरूपण	≡)
हिन्दी-भाषा-सार	।।।≡)	सरल पिंगल	।)
हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ	१।)	सत्य हरिश्चन्द्र	।।।≡)
हिन्दी सा० की रूपरेखा	।)	हिन्दी सा० का सं० इतिहास	।।)
संक्षिप्त हिन्दी साहित्य	१।)	प्रारम्भिक रसायन	१)

हिन्दी परिचय परीक्षा

पुस्तक	मूल्य	पुस्तक	मूल्य
छत्रपति शिवाजी	।)	बालभारती	।=)
वीर शतमन्यु	।)	बाल कवितावली	।)

हिन्दी कोविद परीक्षा

पुस्तक	मूल्य	पुस्तक	मूल्य
बाल पञ्चरत्न	।।)	बालकथा भाग १	।=)
वीर सन्तान	।=)	बालनाटकमाला	।)

प्रत्येक परीक्षा के प्रश्नपत्रों के सेट के लिए लिखिए।